श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर
श्री पुण्य सुवर्ण स्मारक ग्रन्थमाला
पुष्प नं० ३३

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी महाराज रचित

प्रश्नोत्तर सार्द्ध शतक

हिन्दी अनुवाद

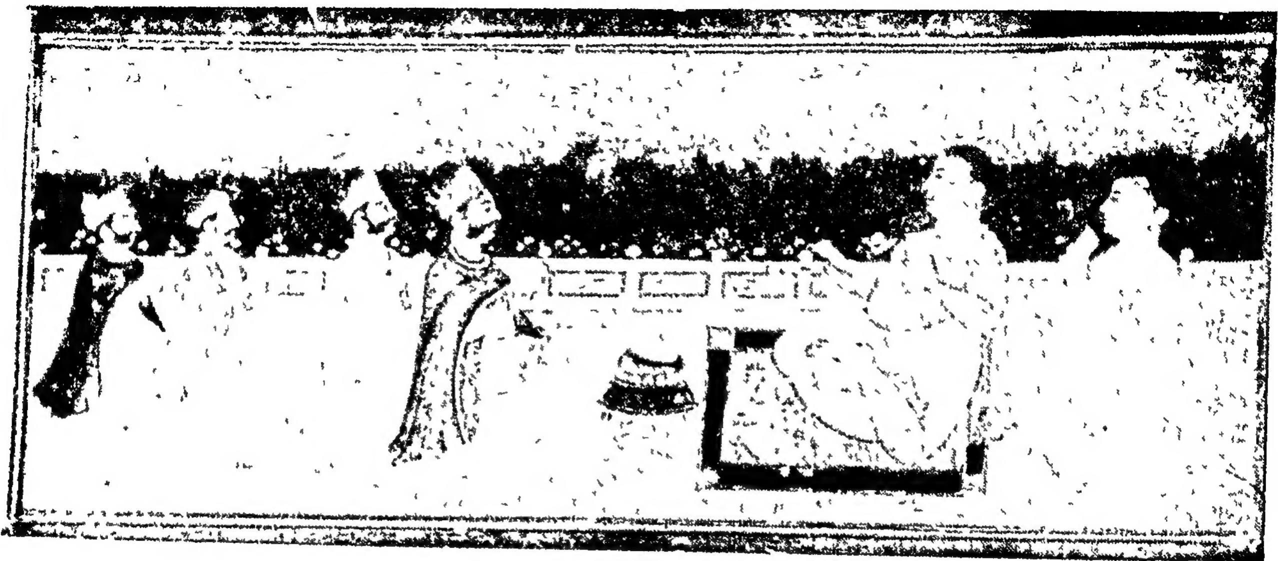
अनुवादिका—
प्र० विचक्षणश्री

द्रव्य सहायक—
इन्दौर श्राविका मंडल

प्रकाशक—
श्री पुण्य सुवर्ण ज्ञानपीठ
जयपुर

प्रथमावृत्ति १०००] मूल्य २) रु० [वि स २०२४

मुद्रक :
पं० ईश्वरलाल जैन
आनन्द प्रिंटिंग प्रेस, गोपालजी का रास्ता,
जयपुर - ३.



उपाध्याय क्षमाकल्याणजी शिष्य व श्रावकों सहित

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी

ले०-अगरचन्द नाहटा

श्वे० जैन सघ मे खरतर गच्छ की सेवाए चिरस्मरणीय रहेगी। समय समय पर अनेक आचार्यों, मुनियो व श्रावको आदि ने जैन शासन की विविध प्रकार की महान् उल्लेखनीय सेवाये की हैं। १६वी शताब्दी मे खरतर गच्छ मे एक गीतार्थ विद्वान् ऐसे हो गए हैं जिनकी समाज एव साहित्य को विशिष्ट देन रही है। उनका नाम है उपाध्याय क्षमाकल्याण जी।

जन्म—

प० नित्यानदजी विरचित क्षमाकल्याण चरित (सस्कृत पद्य) के अनुसार आपने बीकानेर के समीपवर्ती गाव केसरदेसर के ओसवाल वशीय मालू गोत्र मे स० १८०१ में जन्म ग्रहण किया था। जन्म नाम खुशालचन्द था।

दीक्षा ग्रहण—

नित्यानन्दजी के लिखित चरितानुसार आपने सवत् १८१२ में अमृतधर्मजी से दीक्षा ग्रहण की। पर दीक्षानदी सूची के अनुसार स० १८१५-१६ के वैशाख वदी ३ फलोधी या असाढ वदी २ जैसलमेर म खरतर गच्छाचार्य श्री जिनलाभ सूरिजी के समीप आपने दीक्षा ग्रहण की थी। आपके धर्म-प्रतिबोधक और गुरुवाचक श्री अमृतधर्मजी थे। अत उनके शिष्य से आप प्रसिद्ध है।

गुरु परम्परा—

श्री जिनभक्ति सूरिजी के प्रीतिसागरजी नामक सुशिष्य थे, उनके विद्वान शिष्य अमृतधर्मजी थे जिनका उसमें वर्णन किया जा चुका है। क्षमाकल्याणजी उन्हीं के सुशिष्य थे। अब उपरोक्त तीनों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

(१) जिन भक्ति सूरि—

जिनसुखसूरि के पट्ट पर श्री जिनभक्ति सूरि आसीन हुये। इनके पिता सेठ गोत्रीय साह हरिचन्द्र थे, जो इन्द्रपालसर नामक ग्राम के निवासी थे। इनकी माता थी हीरसुख-देवी। सम्वत् १७७० ज्येष्ट सुदी तृतीया को आपका जन्म हुआ था। जन्म नाम आपका भीमराज था और सम्वत् १७७९ माघ शुक्ला नवमी को दीक्षाग्रहण करने के बाद दीक्षा नाम भक्ति क्षेम डाला गया। सम्बत् १७८० ज्येष्ट वदी तृतीया के दिन रिणीपुर मे श्रीसंघ कृत महोत्सव से गुरुदेव ने अपने हाथ से इन्हें पट्ट पर बैठाया था। तदनन्तर आपने अनेक देशों में विचरण किया। सादड़ी आदि नगरों मे विरोधियों को (हस्तिचालनादि प्रकार से [!]) परास्त करके विजय लक्ष्मी को प्राप्त करने वाले, सब शास्त्रों में पारंगत, श्री सिद्धाचल आदि सब महातीर्थों की यात्रा करने वाले और श्री गूढानगर में अजित-जिनचैत्य के प्रतिष्ठापक, महा तेजस्वी, सकल विद्वज्जन शिरोमणि आचार्य श्री जिन भक्ति सूरि के (श्री राजसोमोपाध्याय श्री रामावजयोपाध्याय) और श्री प्रीतिसागरोपाध्याय आदि कई शिष्य हुये। आप कच्छ देश मंडन श्री मांडवीबिंदर में संवत् १८०४ में ज्येष्ठ सुदी चतुर्थी को दिवंगत हुये। उस रात्रि को आपके अग्नि-संस्कार की भूमि (श्मशान) मे देवों ने दीपमाला की।

(२) प्रीतिसागरजी—

कहा जाता है कि आप सविग्न पक्षो (वैराग्यवान यति) थे। दीक्षानदी सूची के अनुसार स० १७८८ में आपकी दीक्षा हुई थी। आपका जन्म नाम प्रेमचन्द था। स० १८०१ राधनपुर जिनभक्ति सूरि के साथ, श्री जिनलाभसूरि जी के स० १८०४ मे भुजनगर, स० १८०५ मे मूंद्रा, स० १८०६ मे जैसलमेर मे आप भी साथ थे। सवत् १८०८ कातो वदी १३ बोकानेर मे आप स्वर्ग सिधारे। आपकी पादुकाए जैसलमेर की अमृत धर्म स्मृतिशाला मे प्रतिष्ठित हैं (दे हमारा वीका ने जैन लेख सगह २ (४४) इसके अतिरिक्त आपके सम्बन्ध मे ज्ञातव्य अन्य कोई प्रमाण नही मिला। स० १७६५ मिगसर वदी १४ का आपको लिखित प्रति क्षमा कल्याण भडार मे है।

(३) वाचक अमृतधर्म जी—

कच्छ देश के ओशवशीय वृद्ध शाखा मे आपका जन्म हुआ था। आपका जन्म नाम अर्जुन था। दीक्षा स० १८०४ फागण सुदी १ मे जिनलाभ सूरिजो ने भुज मे दी। शत्रु जयादि तीर्थों की आपने यात्रा की थी। सिद्धान्तो के योगोद्वहन किये थे। आपका चित्त सवेग रग मे आपूरित था, फलत आपने कुछ नियम ग्रहण किये थे जिसका विवरण नियम पत्र मे मिलता है। उसके अन्त मे लिखा है कि सम्वत् १८३८ माघ सुदि ५ को आपने सर्वथा परिग्रह का त्याग कर दिया था।

सम्वत् १८२६ मे श्री जिनलाभसूरिजो ने अपने पास बुलाकर स० १८२७ मे आपको वाचनाचार्य पद से विभूपित किया था। इसके बाद यानि स० १८२६ से १८४० तक आप गच्छनायक

श्री जिनलाभसूरि और श्री जिनचन्द्रसूरि के साथ रहे थे। संवत् १८४३ में आप पूर्व प्रान्त में पधारे और वहां के पवित्र तीर्थों की यात्रा की एवं धर्म-प्रचार किया। वहां आपके उपदेश से कई नवीन प्रासाद बने थे। कइयों पर स्वर्ण के दंड-ध्वज-कलशादि चढाये गये थे। सम्वत् १८४८ मे पटना में सुदर्शन श्रेष्ठि के देहरे के समीप (कोशा वेश्या की) जगह २००) मे जमीदार से खरीद की हुई जगह मे स्थूलिभद्रजी की देहरी भी आपके उपदेश से बनी थी। और आपने ही उसकी प्रतिष्ठा की थी। सम्वत् १८५० में बीकानेर चौमासा किया। सम्वत् १८५१ मे जैसलमेर चतुर्मास किया और वहीं माघ सुदि ८ को आपका स्वर्गवास हुआ। आपका रचित 'विशेष संग्रह संक्षेप' व कई स्तवनादि और कई लिखित प्रतियां बीकानेर के ज्ञान भंडारों मे प्राप्त हैं।

जैसलमेर मे 'श्री अमृतधर्म स्मृति-शाला' है। उसमें जिनभक्ति सूरि, प्रीतिसागरजी व अमृतधर्मजी की पादुकाएं है। अमृतधर्मजी सम्बन्धी क्षमा कल्याण रचित व लिखित 'अष्टक' वाला लेख विशेष महत्व का है (देखिये हमारा 'बीकानेर जैन लेख संग्रह' लेखांक २८४१) उपरोक्त अष्टक हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह के पृ ३०७ पर भी छप चुका है।

विद्या गुरु—

आपका विद्याध्ययन उपाध्याय राजसोम और उपाध्याय रूपचन्द (रामविजयजी) के तत्वावधान मे हुआ था। उस समय ये दोनों पाठक बड़े प्रख्यात विद्वान थे इनका यथा ज्ञात संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) उपाध्याय राजसोमजी—

खरतरगच्छ की क्षेमकीर्तिशाखा मे १८ वी शताब्दी मे उ० लक्ष्मीवल्लभ अच्छे विद्वान और सुकवि हो गये हैं। उनके गुरु भ्राता वाचक सोमहर्पजो के शिष्य वाचक लक्ष्मीसमुद्र के शिष्य उ० कपूरप्रियजो के आप शिष्य थे। सम्वत् १७५४ मे आप दीक्षित हुए। जन्म नाम राजू था। सम्वत् १८०१ के पूर्व आपको गच्छनायक की ओर से उपाध्याय पद प्रदान किया गया था। सम्वत् १८२५ मे आप तत्कालीनगच्छ के समस्त उपाध्यायो मे वृद्ध होने के कारण 'महोपाध्याय' पद से समलंकृत थे।

आपकी शिष्य परम्परा १९८० तक अविछिन्न चली आ रही थी, अब कोई विद्यमान नही रहा। आपके रचित कृतियें इस प्रकार है—

१) श्रुतज्ञान पूजा (संस्कृत)
२) सिद्धाचल स्तवन, गा० ४८ स० १७६७ फा० व० ७
३) नवकर वालो (१०८ गुण) स्तवन
४) सागानेर पद्मप्रभ स्तवन, गा २२
५) उदर रासो, गाथा ३४
६) ग्रहलाघव सारणी टिप्पण (पत्र ६)

सम्वत् १७६४-१८०४ मे लिखित आपको प्रतियें भी बीकानेर भंडारो में है।

(२) उपाध्याय रामविजयजी (रूपचन्द)—

खरतरगच्छ की क्षेमकीर्ति शाखा मे कविवर जिनहर्प १८वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। उनके शिष्य सुखचद (सुख-

वर्द्धन) के शिष्य दयासिंहजी के आप सुशिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी एवं हिन्दी भाषा के आप सुकवि और मर्मज्ञ विद्वान् थे। आपके रचित कृतियों की संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

(१) भर्तृहरि शतक त्रय बालावबोध-संवत् १७८८ काती वदि १३ सोजत में रचित (अभयसिंह राजा के मंत्री छाजेड़ गोत्रीय जीवराज के पुत्र मनरूप के आग्रह से)

(२) अमरू शतक बालावबोध-संवत् १७९१ आश्विन शुक्ला १५ (उपरोक्त मंत्री पुत्र आग्रहात्) अभयसिंह राज्ये।

(३) समयसार (नाटक) बालावबोध-सम्वत् १७९८ आश्विन, स्वर्णगिरी [गणधर (चोपड़ा) गोत्रीय जगन्नाथ हेतवे] प्रकाशित

(४) गौतमीय महाकाव्य (११ सर्ग) सं० १८०७ जोधपुर (रामसिंह राज्ये) प्रकाशित।

(५) गुणमाला प्रकरण-संवत् १८१४ (जिनलाभ सूरि की आज्ञा से)

(६) चित्रसेन पद्मावती चौपाई-संवत् १८१४ पो० सु० १०

(७) चतुर्विंशति जिन स्तुति पंचाशिका (गाथा ५०) संवत् १८१४ भाद्रवा वदी ३ बीकानेर।

(८) भक्तामर टबा—संवत् १८११ जेठ सुदी ८, काला ऊना (शिष्य पुण्यशील* विद्याशीलके आग्रह से)

---

*संवत् १८३३ श्रा० म० ५ मुनरा बंदरा में क्षमाकल्याणजी के पास कई नियम ग्रहण किये थे।

(२३) सन्निपातकलिका टबा, सं० १८३१, पाली
(२४) कल्पसूत्र बालावबोध सं० १८११, वीदासर
(२५) मुहूर्त मणिमाला सं० १८०१ (?)
(२६) समुद्रबद्ध कवित, सं० १७६७, वील्हावास
(२७) गौड़ी पार्श्व छन्द गाथा ११३
(२८) जिन सुख सूरि मजलस-स० १७७२
(२९) कल्याण मन्दिर टब्बा, सं० १८११ काला ऊना
(३०) दुरियर स्तोत्र टबा सं १८१३ बिलाड़ा

रूपचन्दजी के सम्बन्ध मे मेरा स्वतन्त्र लेख अनेकान्त व सप्त-सिधु मे छप चुका है।

अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि सम्वत् १८१० से पूर्व आपको वाचक पद प्राप्त था और सम्वत् १८२३ मे आप उपाध्याय पद से अलंकृत हो चुके थे। सम्वत् १८१८ से २५ तक आप जिनचन्द्रसूरिजी के साथ ही विहार में रहे थे।

विद्याध्ययन—

मेरे अनुमान से सम्वत् १८१८–२९ तक आपने उपाध्याय राज-सोमजी के पास विद्याध्ययन किया। फिर राम विजय जो श्री जिनलाभसूरि के साथ थे उनके पास संवत् १८२५ तक या पीछे भो विद्याध्ययन किया होगा।

विहार—

सम्वत् १८२६ से १८४० तक वाचक अमृतधर्मजी श्री जिनलाभ सूरिज़ी एवं श्री जिनचन्द्र सूरिजी के साथ विचरे हैं। यथा सम्भव आप उस समय भी अपने गुरु के साथ थे।

जिनलाभ सूरि के विहार स्थानो के लिये "ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह" में ३४ दोहे पृ० ४१४-१६ में छप चुके हैं।

सम्वत् १८२४ में बीकानेर मे थे। तदनन्तर १८२६ से १८३३ तक गुजरात-काठियावाड घूमे। सम्वत् १८३४ आबू व मारवाड के तीर्थो की यात्रा करके सं० १८३८ मे ४० तक आप जैसलमेर मे रहे। विद्याध्ययन के अनन्तर आप अधिकाश अपने गुरु वाचक अमृतधर्मजी के साथ ही विहार करते थे। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। सम्वत् १८४३ में पूर्व देश की ओर विहार भी आपने अपने गुरु श्री के साथ ही किया था। सम्वत् १८४३ मे बालूचर में आपका चौमासा हुआ। और वहा भगवती जैसे महान गम्भीर सूत्र की वाचना (व्याख्यान) की थी। सम्वत् १८४८ तक आप अपने गुरु श्री के साथ पूर्व प्रांत मे ही विहार करते हुए धर्मोपदेश व धर्म प्रचार करते रहे। पूर्व प्रदेश मे विहार करने से आपकी भाषा में हिन्दी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसके पश्चात् वहा से विहार कर बीकानेर (सम्वत् १८५० में) पधार गये थे। सम्वत् १८५० का चातुर्मास बीकानेर कर सम्वत् १८५१ का चातुर्मास अपने गुरु श्री के साथ ही जैसलमेर किया और वहीं सम्वत् १८५१ माघ शुक्ला ८ को वाचक अमृतधर्मजी का स्वर्गवास हुआ। इसके पहले और पश्चात् आपने अनेको स्थानो मे विहार कर धर्म प्रचार किया, ग्रंथ निर्माण किया, तीर्थो की यात्राएं की, जिनालय, जिनबिम्बों की प्रतिष्ठायें की। उनका सवतानुक्रम से भिन्न भिन्न सूचि-मय निर्देश किया गया है। अत यहा समुच्चय आदि से आपके विहार की सम्वतानुक्रम से यथाज्ञान सूचि दी जाती है जिससे आपके उद्यत विहार का भली-भांति परिचय मिल जायगा।

अब सं० १८२४ से आपके विहारानुक्रम की सूचि नीचे दी जाती है—

सम्वत् १८२४ बीकानेर (क्षमाकल्याण लिखित प्रति)
सम्वत् १८२५ पार्श्वनाथ यमक वद्ध स्तव
सम्वत् १८२६ माधव वदि ३ शंखेश्वर यात्रास्तवन
सम्वत् १८२७ माधव सु० १२ सूरत, शीतल जिन स्तवन
सम्वत् १८२८ (सत्यपुर), तर्क संग्रह फक्किका
सम्वत् १८२९ चैत्र बहुल, राजनगर, भू धातु वृति
सम्वत् १८२९ राजनगर, गौतमीय काव्यवृति प्रारम्भ।
सम्वत् १८३० फागण सुदि ६, जीर्णगढ़, खरतरगच्छ पट्टावली।
" १८३० पो० घोघा स्तवन
" १८३१ मांडवी
" १८३३ सावण सुदि ५, मुनराबंदिर, क्षमाकल्याण पार्श्वे पुण्यधीर नियम ग्रहण
" १८३३ कातो सुदि ५, मनराबंदर, में स्वयं लिखित प्रति
" १८३४ जेठ सुदि १ आबू यात्रा स्तवन
" १८३४ वैशाख वदि ५ महेवा यात्रा स्तवन
" १८३५ नभ—सुदि ५, पाटोधी, चौमासी व्याख्यान
" १८३६ फागण वदि ६, लौद्रवा स्तवन
" १८३८ जैसलमेर श्रावक विधि प्रकाश साधु विधि प्रकाश
" १८३९ नभ सुदि ५, यशोधर चरित्र, जैसलमेर,
" १८४२ बालूचर चौमासा, भगवती सज्झाय
" १८४३ फागण वदि ११, समेत शिखर यात्रा स्तवन
" १८४४ वैशाख सुदि ५, बालोचर, सम्भव जिनालय प्रतिष्ठा
" १८४४ भादवा वदि ७ बालोचर, अमृतक्षमा
" १८४५ माघ सुदि ११ महिमापुर, सुविधि स्तवन

„ १८४७ माघ वदि २ पावापुरी यात्रा स्तवन
„ १८४७ माधव सुदि ५ महाजन टोलो, पार्श्व स्तवन
„ १८४७ विजय दसमो महिमापुर, थावच्चा चौपई
„ श्रु० बहुल ११ मकसूदाबाद, सुक्त रत्नावली
„ १८४८ चै सुदि पाडलोपुर तीर्थयात्रा स्तव श्लो० ३२
„ १८४८ पाडलीपुर, स्थूलिभद्र थापना सज्झाय गाथा १३
„ १८४८ काती वदी ५ पटना, अमृत धर्म क्षमाकल्याण
„ १८४८ पा सुदि १५ पावापुरी हरजीलाल मूलचन्द
सह यात्रा स्तवन
„ १८४८ विपुलाचल अर्हमता स्थापना सयुक्त ७
„ १८५० माघ सुदि १, बीकानेर पत्र
„ १८५० भादवा वदि ५, बीकानेर „
„ १८५० नभ सुदि ७, बीकानेर, जीव विचार वृति
„ १८५१ असाढ वदि २ जेसलमेर के लिये आदेश पत्र
„ १८५२ नभ सुदि ११, जैसलमेर, गौतमीय काव्य टोका
„ १८५३ श्रावण सुदि १, बीकानेर पत्र
„ १८५३ वैशाख वदि १२, बीकानेर, प्रश्नोत्तर सार्द्ध
शतक भाषा
„ १८५४ मिगसर सुदि ६, गिरनारस्तव, घाणेराव
संघ सह
„ १८५४ चैत्र सुदि ८ शत्रुंजय स्तवन
„ १८५४ आ० सुदि ३, पालो ताणा, अम्बड चरित्र
„ १८५५ भादवा सुदि ११, सूरत पत्र
„ १८५५ फागण वदि १२ श्रीपुर अंतरिक्ष स्तवन
„ १८५६ जेठ सुदि १३, नागपुर, चैत्य वदन चौवीसी
„ १८५६ भादवा सुदि १५, नागपुर से वाचक क्षमा-
कल्याणजी का पत्र।

,, १८५८ जेठ वदि ४, जैसलमेर, जिनहर्ष सूरि पत्र
,, १८५८ भादवा सुदि १०, बीकानेर,
,, १८५८ चैत्र वदि १, लोद्रवा स्तवन,
,, १८५९ जैसलमेर, विज्ञान चन्द्रिका
,, १८६० श्रावण सुदि २ बीकानेर, जैसलमेर अष्टाह्निका व्याख्यान
,, १८६० फा० सु० ७, बीकानेर, जैसलमेर आवेदन पत्र
,, १८६० पो० वदि ११, जैसलमेर।
,, १८६० वैशाख सुदि ७, देवीकोट स्तवन,
,, १८६१ आषाढ सुदि ९, बीकानेर
,, १८६१ माघ वदि ११, देसणोक, प्रतिष्ठा
,, १८६१ फागण सुदि २, जयपुर, सुपार्श्व स्तवन
,, १८६२ आ० सुदि १५, जयनगर, पत्र मे उल्लेख
,, १८६२ चैत सुदि ८, जयपुर, क्षमाकल्याण लिखित पत्र
,, १८६६ फाल्गुण सुदि १५, शंखेश्वर, मारवाड़ के संघ सह यात्रा स्तवन
,, १८६६ चैत सुदि १५, गिरनार स्तवन,
,, १८६६ काती जयनगर (श्रा० व्रत ग्रहण)
,, १८६६ वैसाख सुदि २, शत्रुंजय यात्रा स्तवन
,, १८६७ फागण वदि १३, कृष्णगढ़। १८६७ आश्विन सुदि ५, पाली, पत्र
,, १८६७ माघव ९ मंडोर प्रतिष्ठा स्तवन
,, १८६७ आश्विन , पत्र,
,, १८६७ फागण सुदि ६, कृष्णगढ़, पत्र
,, १८६८ चैत सुदि ८ किशनगढ
,, १८६८ भादवा व. ३ किशनगढ

„ १८६८ वैशाख वदि १४, जोधपुर गोडा दुखने का पत्र
„ १८६९ जेठ वदि ३, देसणोक पत्र
„ १८६९ पो वदि ८, बीकानेर „
„ १८६९ माघ वदि ८, देसणोक, „
„ १८६९ मिगसर वदि १०, बीकानेर, „
„ १८७० श्रावण सुदि ११, बीकानेर, „
„ १८७० फागण सुदि १०, देसणोक „
„ १८७० वैशाख सुदी ८, अजमेर, „
„ १८७० भादवा सुदि ७, बीकानेर „
„ १८७१ माघ सुदि ७, बीकानेर „
„ १८७१ भादवा वदि, २, बीकानेर „
„ १८७१ मिगसर वदि ८, बाकानेर „
„ १८७२ भादवा वदि १२, बीकानेर „
„ १८७२ मिगसर वदि १४, बीकानेर „
„ १८७३ मि० व० ८, बीकानेर „
„ १८७३ जेठ वदि २, „
„ १८७३ आ० वदि १४, „

वाचक पद प्राप्तिः—

सम्वत् १८५५ में गच्छनायक जिनचन्द सूरिजी ने आपको अपने निकट बुलाकर 'वाचक' पद प्रदान किया था।

उपाध्याय पद प्राप्ति—

जिनचन्द सूरिजो का सम्वत् १८५६ मे स्वर्गवास होने के अनन्तर श्री जिनहर्ष सूरि उनके पद पर स्थापित किये गये। उन्होने गच्छ में आपकी योग्यता सविशेष देख (सम्वत् १८५८

के पूर्व) आपको उपाध्याय पद से अलंकृत किया। सम्वत् १८५८-५९ में आप गच्छ नायक के साथ जैसलमेर मे ही थे।

ग्रन्थ निर्माण—

व्याकरण, न्याय आदि मे आपका अच्छा पाण्डित्य था ही पर जैन सिद्धांतों (आगमों) के गूढ रहस्यों को भी जानने मे आपकी असाधारण गति थी। खरतर गच्छ मे उस समय आप सर्वोपरि गीतार्थ माने जाते थे। अनेकों विद्वान् अपने प्रश्नों या सन्देहों का समाधान आपसे करते थे। गच्छनायक आचार्य भी आपकी सैद्धान्तिक सम्मति का बहुमूल्य समझते थे। कई यतियों ने आपके पास विद्याध्ययन कर पांडित्य और गीतार्थता प्राप्त की थी। प्रश्नों के सप्रमाण उत्तर देने मे या निराकरण करने मे आप सिद्धहस्त थे। 'प्रश्नोत्तर सार्द्ध शतक' के अतिरिक्त छुटकर सैकड़ों प्रश्नों के उत्तर आपके लिखित यहां के महिमा भक्ति भण्डार आदि मे विद्यमान है। उनमे कई-कई प्रश्न तो इतने जटिल जौर विचारणोय है कि उनका समुचित उत्तर देने वाले अब बहुत ही कम मिलेगे।

आपके रचित ग्रन्थों की सूची सम्वतानुक्रम से इस प्रकार है—

सम्वत् १८२६ माधव ३, शंखेश्वर स्तवन प्र०

१८२७ वैशाख शुक्ल १२, सूरत, शीतल, सहसफणा पार्श्व स्त० गाथा ११ प्र०

१८२८ सूरत, तर्क संग्रह फक्किका प्र०

१८२९ चैत्र वदि १, राजनगर, भु धातु वृति

१८२९ राजनगर, गौतमीय काव्य वृति प्रारम्भ प्र०

१८३० पौष, घोघा, नवखंडा पार्श्व स्तवन प्र०
१८३० फाल्गुन शुक्ला ६, जीर्णगढ, खरतरगच्छ
पट्टावली प्र०
१८३३ कार्तिक शुक्ला ५, मनरावदिर, आत्मप्रबोध*,प्र०
१८३४ वैशाख कृष्णा ५, महेवा, पार्श्व स्तवन प्र०
१८३४ ज्येष्ठ शुक्ला १, आबू, ऋषभ जिनस्तवन प्र०
१८३५ श्रावण शुक्ला ५, पाटोधी, चातुर्मासिक
व्याख्यान । प्र
१८३६ फाल्गुण कृष्णा ६, लोद्रवा, सहस्रफणा पार्श्व-
स्तवन प्र
१८३८ जैसलमेर, श्रावक विधि प्रकाश प्र.
साधु विधि प्रकाश प्र
१८३९ श्रावण शुक्ला ५, जैसलमेर, यशोधर चरित्र प्र
१८४३ (४२) चातुर्मास, बालूचर, भगवती सूत्र सज्झाय प्र
१८४३ फाल्गुण कृष्णा ११ सम्मेत शिखर, तीर्थयात्रा
स्तवन गा० ७ प्र
१८४४ वैशाख शुक्ला ५, अजीमगंज, संभव (प्रतिष्ठा
स्त० प्र
१८४५ माघ शुक्ला ११, महिमापुर, सुविधि (प्रतिष्ठा)
स्त० गा० ७ प्र
१८४७ वैशाख शुक्ला ५, महाजन टोली, पार्श्व
(प्रतिष्ठा) स्त० गा० ५ प्र
१८ ४७ विजयदशमी,महिमापुर, बावन्या चौपई गा०५३प्र

---

* जैन इसके रचयिता जिनलाभ सूरि होने का उल्लेख प्रशस्ति में है पर क्षमाकल्याणजी की रचनाओं की जो सूची ज्ञान भंडार में मिली है उसमें इसका भी नाम है।

१८४७ श्रु० बहुल ११, मकसुदाबाद, सूक्त रत्नावली वृत्ति प्र०

१८४७ माघ कृष्णा २ पावापुरी, महावीर स्तवन प्र०

१८४७ पाड़लीपुर, स्थूलिभद्र स्थापना स्तवन प्र०

१८४८ पोष शुक्ला १५, पावापुरी, महावीर स्तवन प्र० (हरजीमल सुत मुलचन्द संघ सह यात्रा) गा० ५

१८५० श्रावण शुक्ला ७, बीकानेर, जीव विचार वृत्ति प्र०

१८५१ ज्येष्ठ शुक्ला ५, जैसलमेर प्रश्नोतर-सार्द्ध शतक प्र०

१८५१ भाद्रवा शुक्ला ५. , पार्श्वस्तवावचूरि

१८५२ श्रावण शुक्ला ११, जैसलमेर, गौतमीय काव्य वृति समाप्ति प्र०

१८५३ वैशाख वदि १२, बीकानेर, प्रश्नोतर सार्द्ध-शतक भाषा

१८५४ मार्गशीर्ष शुक्ला ९. गिरनार, नेमिस्तवन (घाणेराव संघ सहयात्रा) प्र०

१८५४ चैत्र शुक्ला ८, शत्रुंजय—स्तवन गा० ११ प्र०

१८५४ आषाढ सुदि ३. कुजवार. पालीताणा, अम्बड चरित्र

१८५५ फाल्गुन कृष्णा १२, श्रीपुर, अंतरिक्ष पार्श्व स्तवन गाथा ७ प्र०

१८५६ ज्येष्ठ शुक्ला १३, नागपुर, चैत्यवंदन चौवीशी जिन नमस्कार प्र०

१८५८ चैत्र वदि १, लोद्रवा, पार्श्वनाथ स्तवन प्र०

१८५९ जैसलमेर, विज्ञान चन्द्रिका

१८६० सूचि (श्रावण) सुदि २, जैसलमेर, अष्टान्हिका व्याख्यान प्र०

१८६० फाल्गुन शुक्ला ११, बीकानेर मेरू त्रयोदशी अक्षय तृतीया होरिका व्याख्यान, प्र०

१८६० वैशाख शुक्ला ७, देवीकोट, ऋषभ (प्रतिष्ठा) स्तवन प्र०

१८६१ माघ शुक्ला ५ देशणोक, सुविधि, (प्रतिष्ठा) स्तवन प्र०

१८६१ फाल्गुन शुक्ला २, जयपुर सुपार्श्वनाथ स्तव प्र०

१८६६ फाल्गुन शुक्ला १५, शखेश्वर, पार्श्वस्तवन मरुधर सघ सहयात्रा प्र०

१८६६ चैत्री पूनम गिरनार, नेमिस्तवन प्र०
(सघवी गिडोया राजाराम
तिलोकचद लूणीया सघ सह यात्रा

१८६६ वैशाख सुदि २ , शत्रुञ्जय स्तवन गाथा १५ प्र०

१८६७ माघ वदि ९ , मडोवर , पार्श्व प्रतिष्ठा स्तवन प्र०

१८६९ विजयदशमी , बीकानेर , श्रीपाल चरित्र वृत्ति ग्र० ५०२२ प्र०

१८६९ माघ शुक्ला १३, अजमेर , सभव (प्रतिष्ठा) स्तवन प्र०

१८७१ माघ शुक्ला १ , बीकानेर , सुपार्श्व (प्रतिष्ठा) स्तवन प्र०

१८७३ , बीकानेर , समरादित्य चरित्र (अपूर्ण)

क्षमाकल्याणजी के रचित सस्कृत और राजस्थानी की अनेक लघु रचनायें महिमा भक्ति ज्ञान भण्डार में है इनमे से

स्तवनादि का एक संग्रह ४० वर्ष पूर्व श्री हरिसागरजी ने चैत्य वन्दन स्तवन संग्रह के नाम से प्रकाशित किया था।

बिना संवत के उल्लेखनीय ग्रन्थ

१) जिन स्तुति श्लोक ७७ ग्रन्थाग्रन्थ १४८
२) चतुर्विंशति चैत्यवंदन (श्लोक ७३) २
३) प्रतिक्रमण हेतवा भाषा, विक्रमपुर
४) श्राद्ध प्रायश्चित विधि, वालूचर
५) पर समयसार विचार संग्रह (?)
६) विचार शतक बीजक
७) जयतिहुअण भाषा वद्धकाव्य, पद्य ४१, महिमापुर, (कातेला सोभाचन्द सुत गूजरमल भ्राता तनसुख आग्रहे)
८) हित शिक्षा द्वात्रिंशिका (स. १८६८ पूर्व)
९) संग्रहणी सपर्याय (प्रति महिमा भक्ति भंडार)
१०) पार्श्व स्तोत्रवृति आदि

अनुपलब्ध

१ चौबीसी काव्य की गेय पद्धति
२ पंच तीर्थी स्तोत्र
३ प्रश्नोतर शतक
४ नग्न पाखण्ड मत स्वरूपाष्टक
५ मुक्तावलि फक्किका प्रश्न
६ समाप्ततंत्र सेग
७ सूक्ति रत्नावली भाषा
८ आलोयणा विधि भाषा
९ चौबीसो वृत्ति

(उल्लेख पुरानी ग्रन्थ सूची मे)

प्रतिष्ठाएँ

आपने अनेक जिनालय व जिन बिम्बो को प्रतिष्ठा कराई थी उनमे कतिपय ये हैं—

१) स० १८४४ वैशाख सुदी ५, अजीमगज, सभव
२) सं० १८४५ माघ सुदि ११, महिमापुर, सुविधि
३) म० १८४७ वैशाख सुदि ५, महाजन टोली, पार्श्व
४) स० १८४८ पाडलीपुर, स्थूलिभद्र स्थान
५) स० १८६० वैशाख सुदि ७ देवीकोट, ऋषभ
६) स० १८६१ माघ सुदि ५, देशणोक, सुविधि
७) स० १८६६ माघ सुदि १३, अजमेर, सभव
८) स० १८७१ माघ सुदि ११, बीकानेर, सुपार्श्व
९) स० १८६८ वैशाख सुदि १२, जोधपुर,
१०) स० १८६७ माधव ६, मडोवर, पार्श्व,

आपके प्रतिष्ठित यन्त्र और पट्ट भी अनेक प्राप्त हैं।

व्रत ग्रहण—

आपके पास अनेक श्रावक-श्राविकाओ ने व्रत ग्रहण किये थे जिनमें से कुछ ये हैं—

१) सवत् १८३३ श्रावण सुदि ५, मनरासदिर, प० पुण्य धीर गणि नियम पत्र
२) सवत् १८४७ मिगसर सुदि ५ , श्रावक मुलचदादि ने आपका नित्य स्मरण करने का नियम
३) सवत् १८५० आषाढ वदि १३ , श्राविका लाला बाइ

४) संवत् १८५० फाल्गुण वदि ३ , श्राविका फूलां बाइ
५) संवत् १८५६ असाढ सुदि ५ , श्राविका चंपेली
१८५४ अ० व० जयनगर सुराणा मगनीराम व्रत ग्रहण
६) संवत् १८६६ काती जयनगरे, वाफणा गौडीदास पुत्र परमानंद १२ व्रत।
१८६६ जे० व० ३ सिद्ध क्षेत्र लूणिया तिलोकचंद १२ व्रत ग्र०
७) संवत् १८६६ मिगसर वदि १०, बीकानेर, श्राविका चांपाबाई

तीर्थ यात्रा—

आपके रचित स्तवनादि से आपने अनेक तीर्थों को यात्रा की, ज्ञात होता है। जिनमें मुख्य ये है—

१) शत्रुंजय सम्वत् १८५४ चैत्र सुदि ८, सं० १८६६ वै. सु. २
२) गिरनार संवत् १८५४ मिगसर सुदि ६, संवत् १८६६ चैत्री पूनम
३) आबू, सं० १८३४ जेठ सुदि १
४) संखेश्वर, सं० १८६६ फाल्गुण सुदि १५,
सं० १८२६ माघ वदि ३
५) नाकोड़ा (महेवा) संवत् १८३४ बैशाख बदि ५
६) घोघा नवखंड पार्श्वनाथ संवत् १८३०
७) लोद्रवा, संवत् १८३६ फाल्गुन वदि ६, संवत् १८५८
८) पावापुरी, संवत् १८४७ माघ वदि २, संवत् १८४८ पौ सुदि १५
९) सम्मेत शिखर, संबत् १८४३ फाल्गुण वदि ११
१०) श्रीपुर अंतरिक्ष पार्श्वनाथ, संवत् १८५५ फाल्गुन वदि १२
११) जैसलमेर, देवीकोट, जोधपुर, अहमदाबाद, सूरत, बालुचर, महिमापुर, पाडलीपुर, महाजनटोली, मकसूदाबाद, देसणोक, बुरहानपुर, अजमेर, दिल्ली, अजीमगंज, फलवद्धी,

खभात, गोडो, जीरावली पार्श्व, क्षत्रियकुंड, राजगृही आदि स्थानो की यात्रा भी स्तवनो से भलीभाति सिद्ध है।

गिडिये राजाराम व संघवी तिलोकचन्द लूणीया का संघ—

रेल्वे द्वारा पर्यटन प्रारम्भ होने के पूर्व शत्रुञ्जयादि तीर्थो की यात्राये करना अति-दुष्कर था। जब कभी कोई धनाढ्य लाखो रुपयो का खर्च व मार्ग का पूर्ण प्रबन्ध करने की योजना करता तभी ये यात्राये की जा सकती थी। ऐसा सुअवसर बहुत समय के पश्चात् और महान् पुण्य से ही प्राप्त होता था। अत उस समय सभी धार्मिक सघ मे सम्मिलित होकर यात्रा का परमलाभ प्राप्त करने को उत्सुक रहा करते थे। महीनो के महीनो मार्ग मे व्यतीत हो जाते। उस समय के धार्मिक जैनो के तीर्थ यात्रा के भावोल्लास की आज कल्पना करना भी कठिन हो गया है।

सघपति शुभ मुहूर्त निश्चित करने के बाद आस-पास एव दूरवर्ती स्थानो मे आमन्त्रण पत्रिकाये भेजते और आस-पास के भावुक जन हजारो की ही नही पर लाखो की सख्या में वहा एकत्र हो जाते। साधु-साध्विया भी सैंकडो और हजारो की सख्या मे एकत्र होते। दूरवर्ती (साधु एव श्रावक सघ) अपने वहा से एक छोटा सघ लेकर मार्ग मे अनुकूलतानुसार बडे सघ के साथ सम्मिलित होते। इस प्रकार एक बडे सघ के साथ अनेको स्थानो के सैंकडो या बहुत से छोटे छोटे सघ मार्ग मे आकर सम्मिलित हो जाते।

सवत् १८९६ मे भी ऐसा ही विशाल सघ सघवी तिलोकचन्द लुणीया और जोधपुर निवासी राजाराम गिडिये के सघपतित्व मे निकला था। उसका ज्ञातव्य सक्षिप्त वृतात इस प्रकार है —

जयपुर से पं. चारित्र विजय पं. चारित्र नंदन आदि ने मिरज़ापुर के वाचनाचार्य चन्द्रभाणजी को (संवत् १८६५) काती वदि १ को पत्र दिया उसमें लिखा है कि—

"तथा इहां थी श्री सिद्धाचलजी की यात्रा निमित्त संघ जावसो हजार १० या १५ लोक हुसी। उपाध्याय श्री क्षमा कल्याणजी जावसी और पिण बीकानेर रा साधु वर्ग जावसीजी। अर म्हारे पिण परिणाम छे जी। पर तुम्हारे पत्र आयां निस्तूक पड़सीजी। अर आपरे पिण यात्रा रा परिणाम होय तो मगसर सुदि ८ ताई तथा ११ तांइ आया रहिज्यो जी। साथ हगांम रो छे जी। सिघवी तिलोकचन्द लुणीया राजाराम गिड़ीया जोधपुर वालो एवं दोय जणा सिंघ निकालसैं। लाख ६ रुपीया तेवड्या छे जात्रा निमतें. सो मिगसर वदी २ कै रोज तो सर्व सहर निजीक निजीक है तिहां कंकोत्री मेलसी अर पोह सुदी १५ किसनगढ़ सुं चालसी सर्व भेला पाली होसी तिहां सुं माह सुदी ५ मी पाली सुं सिद्धाचलजी नै गिरनारजी प्रमुख कुं विदा होसी जो। और पिण श्रावक श्राव-(क)णी घणा साथ होसी जी।

(पत्र के ऊपर)

उपाध्याय श्री क्षमाकल्याणजी गणि की वंदना वाचज्यो अर कह्यो छे श्री सिद्धगिरिजी रा यात्रा सारू वेगा आवेज्यो।"

(पत्र हमारे संग्रह में)

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी रचित शत्रुञ्जय स्तवनों से ज्ञात होता है कि—

जयपुर के बोहरा धर्मसी के पुत्र कपूरचन्द ने अपने परिवार एव स्वर्धामियो के सघ साथ प्रयाण कर किशनगढ वाले विशाल सघ के साथ आ मिले, मार्ग में श्री चिन्तामणि पाश्वनाथ एव फलवर्द्धी पार्श्वनाथजी की यात्रा की एव १७ भेदी पूजा की।

मरुधर प्रान्त के फलवर्द्धि नगर निवासी राज सभा शृ गार गिडीया राजाराम एव सघवी तिलोकचन्द लूणीया ने सघ निकाला। कुकमपत्री भेज सघ को आमन्त्रित किया, पाली मे प्रथम रथ जात्रा की वहा मिरजापुर, जयपुर, किशनगढ, बीकानेर, मेडता, सोभत, नागोर, जैसलमेर, जोधपुर, पाली जालोर, पालणपुर, भिनमाल के सघ सम्मिलित हुए। मार्ग में जिनदर्शन, चैत्योद्धार, देव द्रव्य वृद्धि, धर्म प्रभावना करते हुए पाटण आये। वहा के सघ मुख्य आपके सघ सन्मुख आये और सघ ने वहा चैत्य-वदन, देव-द्रव्य-वृद्धि का। वहा से शखेश्वर पार्श्वनाथजी को (फागुण सुदि १५) यात्रा की। पाटण, राधनपुर, अहमदाबाद, का सघ भा साथ हो गया। और गिरनार पर जाकर सम्वत् १८९९ के चैत्र शुक्ला १५ को सर्व सघ ने यात्रा की। इस सघ में खरतर भट्टारक श्री जिनहर्ष सूरिजी, खरतराचार्य श्री जिनचद सूरिजी, (उपकेश) कवले श्री पूज सिद्धिसूरि और १ सम्भवत पाली के खरतर श्री पूज्य कुल ४ आचार्य एव उ० क्षमाकल्याण जी मुनि साथ थे। हाथी, घोडे, रथ, पैदल अनेक साथ थे और सघ को रक्षा के लिए सैनिको का पूरा प्रबन्ध था।

मार्ग के जिन मन्दिरो के दर्शन और धर्म प्रभावना करता हुआ सघ शत्रुञ्जय के समीप आया। गिरिराज को दूर से दर्शन होने मात्र पर माणिक मोतियो से बधाया, तलहटी आने पर खूब महोत्सव हुआ और वैशाख शुक्ला २ को सघ ने श्री शत्रुञ्जय तीर्थधिराज की यात्रा कर अपने को कृत कृत्य माना।

इस संघ का वर्णन जसराज भाटने निनाणी मे किया है

दे० मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ

इन दोनों संघवियों के विषय मे ओसवाल जाति के इतिहास में लिखा है कि

राजाराम गिडीया

(पृ० ६५३)" गडिया परिवार में सेठ राजा रामजी गडिया जोधपुर मे बहुत नामी साहुकार हुए। इन्होंने संवत् १८७२ मे मोरखां को चिट्ठा चुकाने के समय महाराजा मानसिंहजी को वहुत बडी इमदाद दी थी। तथा आपने शत्रुञ्जय का विशाल सघ भी निकलवाया था।"

पत्र मे इनको जोधपुर निवासी और स्तवन में फलौधी निवासी लिखा है जिसका कारण यह जान पड़ता है कि इनका मूल निवास फलौधी था और व्यापार आदि जोधपुर मे था। और पीछे अधिकांश वही रहने लगे। मंडोवर-जोधपुर में आपने नवीन पार्श्व जिनालय भी वनाया है और उसकी प्रतिष्ठा भी उपाध्यायजी के हाथ से ही सम्वत् १८६७ माघव ९ को कराई थी। यह उन्हीं के रचित स्तवन से स्पष्ट है। सम्वत् १८६८ के वैशाख शुक्ला- को जोधपुर में उपाध्यायजी ने प्रतिष्ठा कराई थी वह भी सम्भवत: इन्हीं के निर्मित जिनालय को होगी। यथा स्मरण इन्होंने गिरनार के पगत्थिये भी बनवाये थे जिसका शिलालेख वहा रास्ते में लगा हुआ है।

संघवी तिलोकचन्दजी लूणीया

आपके विषय में ओसवाल जाति के इतिहास में लिखा है कि-

(पृ० ३३४) "सेठ तिलोकचन्दजी ने अजमेर से शत्रुञ्जय का सघ निकाला। यह सघ हजारो श्रावक, सैंकडो साधु-साध्वियो तथा फौज पल्टन इत्यादि से सुशोभित था। इस सघ के निकालने में आपने हजारो-लाखो रुपये खर्च किये थे। उस समय शत्रुञ्जयजी के पहाड पर अगार-शाह पार का बहुत उपद्रव था जिससे शत्रुञ्जय की यात्रा बन्द हो गई थी। आपने ही सबसे पहले इस यात्रा का पुन चालू किया। इसके स्मारक मे आज भी उनके लूणीया वशज इस पीर के नाम की एक सफेद चादर चढाते हैं। सेठ तिलोकचन्दजी लूणीया के हिम्मतरामजी तथा सुखरामजी नामक २ पुत्र हुये। इनमे सेठ हिम्मतरामजी, चादमलजी, तथा जेठमलजी नामक ३ पुत्र हुये। इन बन्धुओ मे, सेठ चादमलजी अपने काका सुखरामजी के नाम पर दत्तक गये। सेठ चादमलजी लूणीया के पुत्र दीवान बहादुर सेठ थानमलजी लूणीया थे।"

विद्यादान–

आपके शिष्य प्रशिष्य तो आपके पास पढते ही थे पर अन्य शाखा के यति गण भी आपके तत्वावधान मे अध्ययन कर विद्वान हुये थे। जिनमे से सुमतिवर्द्धन व उमेदचन्द विशेष उल्लेखनीय हैं—

सुमति वर्द्धन–

आप जैन तत्वज्ञान के विशिष्ट ज्ञाता थे। आपकी रचनाए निम्नलिखित हैं—

१ समरादित्य चरित्र, सवत् १८७४ माघ सुदि १३, जयमेरु नगरे।

२. उत्तमकुमार चरित्र ।

३. नवतत्व स्वरूप यंत्र ।

४. कर्म ग्रन्थ यंत्र ।

५. चैत्यवंदन भाष्य यंत्र

६. जीव विचार यंत्र ।

७. दंडक यंत्र ।

८. संघयणी यंत्र ।

९. क्षेत्र समास यंत्र ।

१०. नवकार मंत्र ।

इनके शिष्य चारित्र सागर ने क्षमाकल्याणजी रचित साधु विधि प्रकाश का भाषानुवाद संवत् १८९६ में नागोर में बनाया ।

(उपाध्याय क्षमाकल्याणजी समरादित्य चरित्र की अपूर्ण रचना कर स्वर्ग सिधारे अतः आपने उक्त ग्रंथ को संवत् १८७४ माघ शुक्ला ३ को पूर्ण किया)

उमेदचन्द—

श्री जिनभक्ति सूरि शाखा के रामचन्दजी के आप शिष्य थे। आपने भी उपाध्यायजी के पास विद्याध्यन किया था अतः अपने ग्रन्थ में विद्यागुरू रूप से उनकी प्रशंसा की है। आपके रचित ग्रंथ द्वय और एक स्तवन प्राप्त है—

१ प्रश्नोत्तर सार शतक सवत् १८८४ (?), जयपुर।

२. दीवाली व्याख्यान, सवत् १८९६ ज्येष्ठ शुक्ला १३, अजीमगज।

३ सम्मेत शिखर स्तवन, गा० १० सवत् १८७६ माघ बदि ७।

स्वर्गवास—

सवत् १८६८ मे आपको वृद्धावस्था के कारण शारीरिक अस्वस्थता का विशेषत अनुभव होने लगा, इस सवत् के चैत्र शुक्ला ८ को कृष्णगढ से बीकानेर की आर्या खुस्याल श्री को पत्र मे लिखा है, कि—"शरीर को शिथिलता है। राजाराम ने प्रतिष्ठार्थ बुलाया है।" फिर वैशाख वदि १४ जोधपुर से उन्ही को पत्र दिया है उसमे लिखा है कि "वैशाख बदि १ को पिछले पहर विहार कर अजमेर, मेडता, बडलू होते हुए १२ (द्वादशी) को यहा आये हैं, सुदि १२ को प्रतिष्ठा है। ज्येष्ठ तक यहा रह फिर बीकानेर आने का परणाम है, गोडो मे बहुत दर्द है। शारीरिक शिथिलता (बहुत) है" इत्यादि।

सवत् १८६६ मे आप बीकानेर पधार गये थे। सवत् १८६६ मे आपको हरस रोग की बहुत अशाता उत्पन्न हुई। पर आपको शारीरक महत्व नही था। अत औषधादि उपचार विशेष नही किया करते और शरीर के ऐसी अस्वस्थता (वेदना) पर भी नित्य भाडासरजी नेमिनाथजी के मन्दिर (दूर होने पर भी) दर्शनार्थ जाया करते थे। इसके सम्बन्ध लिये सवत् १८७१ के कार्तिक कृष्णा २ को देशनोक से प० ज्ञाने ने पत्र दिया है उसमें लिखा है—

"आपकै हरस को तकलीफ असाता घणो सुणी सो दुखी भया। सरीर का जतन मूल करावो नहीं सो ठीक नहीं, **बगसी रामजी** बठै है उनां पामे जतन करावसी। सरीर वृद्ध है आप भांडासरजी नेमिनाथजी पधारा सो भलो न छै। चोवोसटा, आदिसरजी प्रमुख देहरा सोइ नेमिनाथ है, आप उतनो खेचल न करावसो।" इत्यादि

संवत् १८७३ के श्रावण कृष्णा ६ को आपने जैसलमेर ज्ञानानंदादि को पत्र दिया था उसमे लिखते है—

"हमारे फोडा-फुन्सी की अशाता बहुत रहती है, मुकीम ! भीखणदास हर्षोपशमन की पुड़िया देते है अब लेहु नही जाता है। अब हरस की साता है पुडी २१ ली, फोडो की कुछ कसर है सो (ठीक) हुय जासी" इत्यादि। मिति भाद्रव कृष्णा ५ को उपरोक्त स्थान और मुनियों को दिये पत्र में—

"हरस का लेहु बंध हुआ को दिन १०-१२ हुए, फोडा-फुन्सी २/३ रहा है सो मिट जासी। पिड को दरद तथा दमकी आ जा (जो ?) र तौ सागी तरै है लेहु बहुत गया। सरीर सुस्त है, व्याख्यान उत्तराध्ययन १४ वां अध्ययन बांचें है, समरादित्य चरित्र पाना ८५ भया, चोथे भव के १ पानो बाकी है" इत्यादि।

इन पत्रों से आपकी शारीरिक परिस्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार शारीरिक अस्वस्थता वश सं० १८७३ के पौष कृष्णा १४ मंगलवार को बीकानेर मे आपका स्वर्गवास हुआ। दादाजी के स्थान में आपकी चरण पादुकायें और श्रीमंधर स्वामी मंदिर मे आपकी मूर्ति है। जिनके लेख हमारे

॥स्वस्तिश्रीमदनन्तकान्तिनिचितं भव्यांशुमत्सेवितं पादाब्जं प्रणिपत्य
सत्यमनसा जन्मप्रणाशोद्यतम् मूर्त्तामूर्त्तपदार्थसार्थविलसद्बोधावभा
सीत्मनः श्रीशान्तेर्जिनभगवतस्य जयिनो विश्वत्रये निश्चितम् १ व
सन्ति यत्रोत्तमगुणभ्राजो जना जिनोक्ताध्वनिरक्तियुक्ताः श्रीखरता:
खरतराः सुकृते परोपकारप्रवणा अजस्रम् २ अनाद्यनादीनवसि
द्धिसद्म निवासिनामामरुधराजिराजि तत्रैव बेनातटसन्निवेशो निबद्ध
सख्यादृश्यपदाश्रयेण ३ श्रीमन्तः सद्गुणैर्युक्ता रक्ताः स्वाचारपालने।
निजनिर्मलकीर्त्त्याली धवलीकृतविष्टपाः ४ माणिक्यचन्द्राभिख्याः
सुधियः पावकोपमाः विशुद्धगुणसम्पन्न देववन्द्यादिभिर्युताः ५ ते
षामर्द्धपर्वाहि सुवर्णसमलंकृतम् लेखं लेखर्षभलेखं लेखं लेख
गवाञ्चितम् ततिमातनुते तावत्स्वगतीनामनारतम् ६ वाचकोऽमृत
धर्माख्यः श्रीराजनगरस्थितः क्षमाकल्याणमुनिना युक्तः स्वसमदं कि
ल ७ अतिधन्नेवनश्चेतत्र श्रीदेवप्रसादितः क्षेममत्रवरीवर्त्ति तत्रा
पि स्तात्सदैव हि ८ तथात्रत्य स्वयं मताः यतो व्याप्यस्वावच्छेदकावच्छिन्नो
पयादिल्दृत्त्यसवाच्यत्वावत्स्थवापकत्वावच्छेदकावच्छिन्नगुणयुक्ताः

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी का स्वहस्तलिखित पत्र

बीकानेर जैन लेख सग्रह के लेखाक ११८२, २०२१ मे छप चुके हैं। आपकी एक सुन्दर मूर्ति सुगनजी के उपासरे मे भी है।

चित्र—

आपके कई तत्कालीन चित्र भी प्राप्त हैं।

१ बृहत् ज्ञान भडार मे समुदाय-सह—इसका ब्लाक "तर्क-सग्रह-फक्किका" मे छपवा दिया है।

२ दिल्ली से आपके रचित "सुमतिनाथ स्तवन" पुस्तक में बहुत वर्ष पूर्व रगीन चित्र छपा था जिसका छोटा ब्लाक हमारे "ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह" मे छापा गया है।

३ नवपद यत्र व क्षान्तिरत्न के साथ आपका एक चित्र प्राप्त है जिसमे से आपके चित्र का ब्लाक 'सूक्तरत्नावली' ग्रन्थ में छप चुका है।

४ तरुण वय का एक चित्र मुनि मगलसागर जी से देखने को मिला हैं।

हस्ताक्षर—

आपकी लिखी हुई अनेको प्रतिया बीकानेर व जैसलमेर आदि में प्राप्त हैं। जैसलमेर के अमृत-धर्म-स्मृति-शाला का लेख भी आपके हस्ताक्षरो पर खुदा हुआ है।

आपके लिखित कई पत्र भी हमारे सग्रह एव ज्ञान-भडार में हैं। उनमे से एक पत्र का ब्लाक इस ग्र थ में दिया जा रहा है।

प्रतिष्ठा लेख—

आपने कई मदिर, मूर्तियो, यत्रों आदि की प्रतिष्ठा भी की

जिनके लेख नाहरजी के 'जैसलमेर जैन लेख संग्रह' व हमारे "बीकानेर जैन लेख संग्रह" आदि में छप चुके हैं। कई अप्रकाशित भी हैं।

उपाश्रय—

बीकानेर में आपने एक उपाश्रय व ज्ञान भंडार स्थापित किया जो अभी सुगनजी के उपासरे के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आपके नाम से क्षमाकल्याण ज्ञान-भंडार भी है।

श्रीसिद्धचक्राय नमः श्रीपुंडरीकादिगौतमगणधरेभ्यो नमः "श्रीबृहत्खरतरगणाधीश्वर--भट्टारक--श्रीजिनभक्ति सूरिशिष्य प्रीतसागर गणिशिष्य वाचनाचार्य सविग्न श्रीमदमृतधर्मगणि शिष्योपाध्याय श्रीक्षमाकल्याणगणिनामुपदेशात् श्री संघेन पुण्यार्थे, श्री बीकानेर नगरे इयं पोषधशाला कारिता संवत् १८५८। इस पोषधशाला मांहे शुद्ध समाचारी धारक संवेगी साधु साध्वी श्रावक श्राविका धर्म ध्यान करै और कोई उजर करण पावै नहीं सही ।२॥ लिखितं उपाध्याय श्रीक्षमाकल्याण गणिभिः संवत् १८६१ मिती मार्गशीर्ष सुदि ३ दिने संघ-समक्षम् ॥

उपाध्याय श्रीक्षमाकल्याणगणि स्वनिश्रा को पुस्तक भंडार स्थापन कीयो उसकी विगति लिखै है—

"ए ग्यान भंडार को पुस्तक कोई चोर लेवै अथवा बेचै सो देवगुरु धर्म को विराधक होय भवोभव महादुःखी होय।"

क्षमाकल्याणजी के प्रशिष्य महिमाभक्ति जी का पुस्तक संग्रह काफी अच्छा था, जो बड़े उपाश्रय के बृहद् ज्ञान भंडार में सुरक्षित है।

उपाध्याय क्षमाकल्याणजी के सम्बन्ध में अष्टक और एक परलोकगतानां गुरुणां स्तव नामक रचना हमारे ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। इनके अतिरिक्त कुछ फुटकर पद्य भी मिले हैं, जिन्हें नीचे दे दिया जा रहा है।

अथान्य पंडित कृत गुरुजी महाराज के काव्य—

क्षमाकल्याणार्हा प्रवरगुणवतश्शमधरा-
स्सदाचारा धारास्सकलशुभ राव वृततु च ॥
वरोपाध्यायास्मॅजिनवचनपूतास्यकमला ।
विरागार्हा पूज्या कुमतिमतमेघौघपवना ॥१॥

श्रीपूज्यपादकमलाय भुवि क्षमादि ।
कल्याणनामललिताय सुवदनालि ॥
छंदो विधायि मधुरेश कृताऽर्थवेत्रे ।
स्तात्ते जनप्रियकराय नृपार्च्चितनाथ ॥१॥

(वैदेशिक-द्विज-कवि मथुरानाथ-कृतं पद्यमिदम्—)

वानी में अमृत श्रवे, मत संचन करे और ।
देखे क्षमाकल्याण जू, सब पंडित सिर मौर ॥१॥

(नागोर वास्तव्य भंडारी फतेहचन्दजी कृत दोहा।)

शिष्य परम्परा—

बीकानेर के बृहद् ज्ञान भण्डार में आपके गुरु और शिष्य परम्परा को विस्तृत नामावली वाला पत्र प्राप्त है। उससे यह ज्ञात होता है कि क्षमाकल्याणजी के ४ शिष्य थे। (१) केसरी[illegible]

(कल्याणविजय) (२) विजयचन्द (विवेकविजय) (३) विनयचन्द (विद्यानन्दन) (४) धर्मानन्द (धर्मविशाल) । इनमें से कल्याण-विजय के शिष्य गुणानन्द (गोविन्द) हुये जिनके शिष्य मोतीचन्द (महिमाभक्ति) और उनके शिष्य शिवचन्द (सर।सोम) और मुकनचन्द हुये । मुकनचन्दजी का शिष्य जयकरण अभी विद्यमान है ।

दूसरे शिष्य विवेकविजय के शिष्य ज्ञानानन्द (ज्ञानचन्द) हुये । उनके शिष्य मयाचन्द (मेरुधर्म) और ठाकुरसी (दयाराज) हुये । इनमें से मयाचन्द के शिष्य लक्ष्मण (लाभराज) और नन्दराम (नयसुन्दर) हुये तथा ठाकुरसी के शिष्य का नाम सिरदारा था ।

धर्मानन्दजी के शिष्य सुगनजी (सुमतिविशाल) हुये जिनके रचित अनेक पूजायें और चौवीसी आदि प्राप्त है । उपरोक्त परम्परा यति समाज की ही समझनी चाहिये ।

खरतरगच्छ में जो अभी साधु-साध्वी समुदाय है उनमे क्षमाकल्याणजी की परम्परा के ही साधु-साध्वी अधिक हैं। साधु परम्परा सम्बन्धी 'सुख-चरित्र' आदि ग्रंथों द्वारा विशेष जानकारी प्राप्त की जा सकती है ।



भूमिका

विश्व मे जड और चेतन ये दो ही प्रमुख पदार्थ हैं। अर्थात् सारी सृष्टि जड और चेतनमय है। जीव चैतन्य-स्वरूप है और पुद्गल आदि जड पदार्थ हैं। जीव का लक्षण है-'ज्ञान'। प्रत्येक आत्मा मे थोडा या बहुत ज्ञान है ही। ज्ञान का विकास प्रथमत इन्द्रियो एव बुद्धि आदि से सबधित है अत एकेन्द्रिय आदि जीवो का ज्ञान बहुत ही सीमित होता है और मनुष्य मे ही ज्ञान का अधिकाधिक विकास हो सकता है। मन-पर्यव-ज्ञान और कैवल्य-ज्ञान मनुष्य के सिवाय अन्य किसी प्राणी को नही हो सकता। कैवल्यज्ञान ही ज्ञान की परिपूर्णता है।

जहा तक मनुष्य को पूर्ण ज्ञान नही हो जाता वहा तक जिज्ञासायें और सन्देह बने रहते हैं। समय-समय पर स्वत या दूसरे किसी से कुछ जानकर या सुनकर मानव मन मे अनेक प्रकार के प्रश्न उठते हैं। उनमे से कईयो का समाधान तो स्वत हो जाता है पर कई प्रश्नो का समाधान दूसरे अनुभवी एव ज्ञाता पुरुषो से भी प्राप्त हो सकता है। स्वय ज्ञानी पुरुष भी अनेक बार दूसरो के मन में उठने वाले प्रश्नो को स्वत उठाकर उनका समाधान कर दिया करते हैं।

प्रश्नोत्तर शैली द्वारा ज्ञान के विकास की प्रणाली बहुत प्राचीन है। प्राचीन ग्रन्थो के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि इस

प्रश्नोत्तर शैली में ज्ञान साधारण को बहुत लाभ पहुंचता है। बौद्धिक विकास के लिये प्रश्नों का उत्पन्न होना और उनके उत्तरों को प्राप्त करना बहुत ही आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन जैनागमों में से भगवती सूत्र में तो गणधर गौतम आदि ने भगवान महावीर से समय-समय पर अनेक प्रकार के प्रश्न किये और भगवान महावीर ने उन प्रश्नों का उत्तर देकर प्रश्नकर्ता के मन का समाधान किया। अर्थात् प्रश्नोत्तर शैली में ही भगवती सूत्र की रचना हुई है। इसी तरह और भी अनेक ग्रन्थों में इस शैली को अपनाया गया है। जहां तक संस्कृत में स्वतन्त्र प्रश्नोत्तर-ग्रन्थ के रचे जाने का सवाल है मेरी जानकारी में १२ वीं शती में नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य हरिश्चन्द्र गणि ने 'प्रश्न-पद्धति' नामक ग्रन्थ बनाया है वही संस्कृत भाषा में सबसे पहला प्रश्नोत्तर-ग्रन्थ है। मूल ग्रन्थ पहले प्रकाशित हो चुका था। उसका गुजराती अनुवाद भी आ० विजयमहेन्द्रसूरि का किया हुआ अहमदाबाद से प्रकाशित हो चुका है।

उपरोक्त 'प्रश्न-पद्धति' मे ६६ प्रश्नों के उत्तर हैं। इनमे से कई तो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। प्रश्न नं० ३० और ७० मांडुक के निवासी देवसी दोशी और चन्द्रावती के निवासी पोरवाड़ सागरचन्द्र नामक श्रावकों के पूछे हुये हैं। इस प्रश्नोत्तर-ग्रन्थ में गीतार्थ पद्धति नामक ग्रन्थ की ३ गाथायें उद्धृत है, ग्रन्थ अभी तक कहीं देखने में नहीं आया है। प्रश्न नं० ७० के उत्तर मे हरिश्चन्द्र गणि ने अपनी बनाई हुई "संसारदावा' स्तुति की टीका का उल्लेख किया है वह भी अब प्राप्त नहीं है। प्रश्न नं० २८ के उत्तर मे 'वसुदेवहिन्डी' के वीरचरित्र अधिकार का उल्लेख है शायद वह भी अब अप्राप्त है। इस तरह प्रश्नोत्तर ग्रन्थों मे कई अलभ्य ग्रन्थों के उल्लेख व उद्धरण प्राप्त हो जाते हैं।

प्रश्न-पद्धति के बाद तो अनेक प्रश्नोत्तर शैली के ग्रन्थ रचे गये और उनके द्वारा जिज्ञासुओ के प्रश्नो का समाधान होने के साथ-साथ अन्य अनेक व्यक्तियो की भी ज्ञान वृद्धि हुई। प्रस्तुत क्षमाकल्याणजी रचित प्रश्नोत्तर-सार्धशतक ग्रन्थ भी इस परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रश्नोत्तर-सार्धशतक मे १५१ प्रश्नो का उत्तर दिया गया है। इसके रचयिता क्षमाकल्याणजी अपने समय के बहुश्रुत और गीतार्थ विद्वान थे। समय-समय पर उनको अनेक यति और श्रावकादि प्रश्न करते रहते थे। दूर-दूर से भी पत्र द्वारा उन्हे प्रश्न पूछे जाते रहते थे और वे उन सबका सप्रमाण उत्तर देते हुये समाधान किया करते थे। हमारे सग्रह मे और बीकानेर के बृहद् ज्ञान भण्डार मे ऐसे कई पत्र एव प्रतिया प्राप्त है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तर-सार्धशतक मे उठाये हुये प्रश्न, किसने और कब किये इनका कोई उल्लेख नही मिलता। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य जैसा कि रचयिता ने अन्त मे स्वय स्पष्ट किया है कि अपनी स्मृति के लिये इस ग्रन्थ की रचना की गई है। ग्रन्थ दो भागो मे विभक्त है, पूर्वार्द्ध मे ७५ और उत्तरार्द्ध मे ७६ प्रश्नोत्तर हैं। अन्तिम प्रशस्ति से विदित होता है कि इसकी रचना जैसलमेर मे प्रारम्भ हुई, फिर कुछ बीकानेर मे रचा गया और पूर्ण जैसलमेर में ही हुआ। सवत् १८५१ के जेठ सुदी ५ को यादव (भाटी) नरेश मूलराज के राज्यकाल में यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

प्रस्तुत ग्रन्थ को सर्व प्रथम पत्राकार रूप मे सवत् १९७३ कार्ती सुदी ५ को बम्बई के निर्णय सागर प्रेस मे छपवाकर सूरत निवासी फकीरचन्द घेलाभाई ने प्रकाशित किया। खरतरगच्छ के आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी के शिष्य मुनि सुखसागरजी ने इसका सशोधन किया है।

इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद श्री विजय महेन्द्र सूरिजी ने स० २०१४ माघ सुदि ५ पाटड़ो में पूर्ण किया और वह संवत् २०१५ श्री वर्द्धमान सत्य नीति हर्ष सूरि ग्रन्थ माला, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में प्रस्तुत ग्रन्थ और उसके रचयिता के संबंध में लिखा है–कि "इस ग्रन्थ में आगम, प्रकरण तत्वज्ञान, और अनुष्ठान गत अनेकविध रहस्य प्रश्नोत्तर के रूप मे उपस्थित किये गये हैं। ऐसे प्रश्नोत्तर खूब चिन्तनशील और धर्मग्रंथो का गम्भीर अभ्यासी ही उपस्थित कर सकता है। इस ग्रंथ के रचयिता महामहोपाध्याय क्षमाकल्याणगणि उनके ग्रंथो के आधार से आगम, प्रकरण, और तत्वज्ञान के गम्भीर अभ्यासी होने के साथ ही सतत् चिन्तनशील महापुरुष ज्ञात हैं। इस ग्रंथ मे उन्होने आगम, तथा अन्यानेक (करीब ६०) ग्रंथों के प्रमाण एवं उदाहरण देने के साथ अपना अनुभव भी समावेशित कर दिया है। इस ग्रन्थ के कई प्रश्न तो ऐसे हैं कि उनका उत्तर देने में बड़े एव अच्छे विद्वान भी विचार में पड़ सकते हैं। कई प्रश्नों का समाधान तो वास्तव मे ही आज के जिज्ञासुओं के लिए भी बहुत उपयोगी एव आवश्यक है।"

प्रश्नोत्तर सार्धशतक मूल ग्रंथ तो संस्कृत में रचा गया है, पर इसका राजस्थानी भाषा में सारांश भी क्षमाकल्याणजी ने स्वयं ही लिखा है। "प्रश्नोत्तर सार्धशतक भाषा" के नाम से उस सार या बीजक की रचना सम्वत् १८५३ के बैशाख बदि १२ बुधवार आर्या खुस्याल श्री के लिए बीकानेर में की गई है। इसकी हस्तलिखित प्रतियां बीकानेर अहमदाबाद आदि के ज्ञान भण्डारों में प्राप्त हैं। उसकी भाषा और शैली का परिचय कराने के लिए आदि और अन्त का कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है।

अथ प्रश्नोत्तर सार्धशतक नों बीजक लिखीयै छै—

(१) पहले बोले-तीर्थंकर देव समवसरण में देशना अवसरें पाद पीठ ऊपर चरण राखी बैसे, हाथ दोनु जोग मुद्रायें राखै, आचार्य पण प्रायें इन मुद्रायें करीने व्याख्यान करें। भगवान मुखें मुहपत्ती न राखें, आचार्य राखें, इत्तरों विशेष छै। ए अधिकार 'चैत्य वन्दन बृहद् भाष्य' मे कह्यो छै।१।

(२) दूजें बोलें-भगवान देशना प्रारभता चतुर्विध सघ रूप तीर्थ ने 'नमो तित्थस्स' इण वचने नमस्कार करी देशना देवैं। ए अधिकार 'आवश्यक निर्युक्ति' प्रमुख मे तथा 'चैत्य वन्दन बृहद् भाष्य' मे कह्यो छे।२।

(३) तीजे बोलें भगवान दीक्षा लेता सिद्ध भगवान ने नमस्कार करे। ए अधिकार 'आचाराग सूत्रें दूजे श्रुत स्कन्धे छठे अध्ययने छे।३।।

अन्त—

तथा निश्चय नय मतें शैलेसी ने चरम समये जीवने धर्म नी प्राप्ति हुवे तेह थी पूठला समया माहे सम्यक्त्वादिक छे तेह सर्व धर्म नों साधन थोज जाणेवो। ईत्य एव भूत रूप निश्चय नय छै। धर्म सग्रहणी शास्त्र मे कह्यो छे।१५१।

इति श्री वाचनाचार्य श्री मदमृत धर्म गणि विनेय वाचक क्षमा कल्याण गणि विनिर्मित प्रश्नोत्तर सार्धशतकस्य सूचीनाम् भाषाया मुत्तरार्धम्।

श्लोक—निष्पन्नमानन्दमयैर्जिनाद्यैः समाग्रिमैः शुद्ध पदैरवक्रम् ।
ह्रींकार दीप्रंश्रित सर्वशक्रं श्री सिद्धचक्रं शरण ममास्तु ।

दोहा—सय अठार तेपन समै, वदि वैशाख सुमास ।
बुधवार संपूरन रच्यौ, वीकानेर सुवास ॥१॥

आर्या उत्तम धर्म रुचि, पुत्री सम सुविनीत ।
नाम खुस्याल श्री निमित्त, यह कीनौं धरि चीत ॥२॥

भणसाली संघजी वधू, मोतू नाम उदार ।
ताकौ पुन आग्रह भयौ, जैसलमेर मझार ॥३॥

इति वाचक क्षमा कल्याणगणि कृत संक्षिप्त भाषामय प्रश्नोत्तर सार्धशतकम् ।

लेखकपाठकयो ॥ श्रीरस्तु श्री ॥

(पत्र १६. महिमा भक्ति भण्डार वन्डल नं० ५७ प्रति नं० १०१० से उपरोक्त विवरण दिया गया है)

इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करना आर्यारत्न श्री विचक्षण श्री जी को आवश्यक प्रतीत हुआ और हिन्दी अनुवाद उन्ही के प्रयत्न से प्रकाशित हो रहा है । आशा है जिज्ञासुओं को इससे काफी लाभ होगा । पूज्या साध्वी जी और प्रकाशन सहायक व्यक्तियों का यह प्रयत्न बहुत ही उपयोगी और सराहनीय है ।

वीकानेर

२२-१०-६५ — अगरचन्द नाहटा

ॐ

श्री अर्हन्नमः

मङ्गलाचरण

श्री सर्वज्ञं नत्वा, स्मृत्वा, पञ्चम गणेशितुर्वाचः ।
प्रश्नोत्तरसार्द्धशतं, वक्ष्ये सिद्धान्तसम्बद्धम् ॥ १ ॥

प्राचीनेषु प्रायः शतकादिषु सन्ति केऽपि ये नार्थाः ।
मयः स्वपरस्मृतये, सगृह्यन्तेऽत्र ते लेशात् ॥ २ ॥

श्री सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार कर एव पञ्चम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी की वाणी का स्मरण करते हुए, सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखने वाले "प्रश्नोत्तर सार्द्ध शतक" नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

प्राय समय सुन्दर उपाध्याय विरचित विशेष शतक, समाचारी शतक, विशेष सग्रह आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थो मे जिन अर्थों का सग्रह नही किया गया है, उनका सग्रह सक्षेप मे इस उद्देश्य से किया गया है कि जिसमे तत्काल हो वे सैद्धान्तिक विषय (अर्थ) अपने एव अन्य व्यक्तियो की स्मृति मे रहें।

इस शुभ भावना से पाठक प्रवर श्री क्षमाकल्याण जी महाराज ने मङ्गलाचरण पूर्वक ग्रन्थ रचना का कारण बतलाया है।

प्रसन्नाः सन्तु गुरवो, बुद्धिं दिशतु भारती।
येन सम्यक् प्रजायेत, प्रयासः सफलो मम॥

सद्गुरुदेव मुझ पर प्रसन्न रहें! सरस्वती देवी मुझे बुद्धि प्रदान करे, जिससे मेरा यह शुभ प्रयत्न भली प्रकार सफल हो!

प्रश्नावली

प्रश्नः-१. समवसरण स्थित भगवान् किस आसन से विराजमान होकर देशना देते है? पद्मासन से अथवा अन्य आसन से?

उत्तर :— इस विषय मे कई आचार्यो का कहना है कि चैत्य-गृह (जिन मन्दिर) मे जिनेश्वर भगवान् के आसन का जो स्वरूप है, उसी आसन से देशना देते है। किन्तु यह कथन तो लोक-व्यवहार की दृष्टि से कहा गया प्रतीत होता है। निश्चयात्मक रूप से तो भगवान् पाद-पीठ पर चरण स्थापित कर, सिंहासन पर विराजमान होने के पश्चात् योग मुद्रा से हाथ धारण कर धर्म देशना करते हैं। इसी कारण से भगवान् के प्रतिरूप के समान होने से आचार्यगण भी प्रायः इसी मुद्रा से व्याख्यान देते हैं। केवल इनमें यह विशेषता रहती है कि ये मुखवस्त्रिका धारण करते है।

इस सम्बन्ध में "चैत्य वन्दन महाभाष्य" में भी कहा है कि :—

जं पुण भणंति केई, ओसरणे जिणसरूवमेयं तु।
जणववहारो एसो परमत्थो, एरिसो एत्थ॥५३॥

सिंहासणे निसन्नो, पाए ठविउण पाय पीढंमि ।
कर धरिय जोग मुद्दो, जिणनाहो देसण कुणइ ॥५४॥

तेण चिय 'ध्दरिंग, कुणति वक्खाण मेय मुद्दाए ।
ज ते जिणपडिरूवा, धरंतिमुह पोत्तियं नवरं ॥५५॥

इस प्रमाण मे समवसरण मे भगवान के आसन की विवेचना की गई है ॥ १ ॥

प्रश्न—२ भगवान् धर्मदेशना के प्रारम्भ मे किसको प्रणाम करते हैं ?

उत्तर — साधु, साध्वी, श्रावक एव श्राविका के चतुर्विध सघ रूप तीर्थ को "नमो तित्थस्स" यह कह कर प्रणाम करते हैं ॥ २ ॥

प्रश्न —३ भगवान् दीक्षाग्रहण करते समय किसको नमस्कार करते हैं ?

उत्तर — भगवान् दीक्षा ग्रहण करते समय सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करते हैं । उस समय उनके लिये यही योग्य होता है । आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्याय मे कहा भी है —

तओण से समणे भगवं महावीरे पंच मुट्ठियं ।
लोय करेत्ता सिद्धाण नमोक्कार करेइ इत्यादि ॥

उसके पश्चात् वे श्रमण भगवान् महावीर पञ्चमुष्टि लोच करके सिद्धों को नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

प्रश्न :-४. महावीर भगवान् की प्रथम देशना में किसी को भी प्रतिबोध नही हुआ तो क्या उस समय वहाँ चार निकाय के देवता हो आये थे या मनुष्यादि भी ?

उत्तर :— श्री कल्पवृत्ति, स्थानाङ्गवृत्ति एवं प्रवचन सारोद्धार की वृहद् वृत्ति के प्रामाणिक अभिप्राय के आधार पर महावीर भगवान् की प्रथम देशना मे देवताओ के अतिरिक्त मनुष्य एवं तिर्यञ्च भी थे।

तद्वृत्ति पाठ मे इस का उल्लेख इस प्रकार है :—

"दशाश्चर्यद्वारे, श्रूयते हि भगवतः श्री वर्द्धमान स्वामिनो जृम्भिकग्रामाद्बहिः समुत्पन्न निस्सपत्न—केवला-लोकस्य तत्काल समायात संख्याऽतीत सुर विरचित चारु समवरणस्य भूरि भक्ति कुतूहलाकुलित मिलिताऽपरिमिता-ऽमरनर तिरश्चां स्वस्वभाषानुसारिणा महाध्वनिना धर्म-कथां कुर्वाणस्यापि न केनचिद् विरतिः प्रतिपन्ना केवलं स्थिति परिपालनायैव धर्मकथाऽभूदित्यादि... ।

—"भगवान् वर्धमान स्वामी को जृम्भिका ग्राम के बाहर असाधारण, अद्वितीय एवं लोकोत्तर केवल ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हुआ। उस समय आये हुए असंख्य देवों ने मुन्दर समव-सरण की रचना की। ऐसे अवसर पर अत्यन्त भक्ति एवं कुतूहल के साथ मिले हुए अपरिमित देवो, मनुष्यो तथा तिर्यञ्चो ने अपनी अपनी भाषा का अनुसरण करने वाली गम्भीर ध्वनि से धर्म कथा सुनी, परन्तु उस देशना से किसी ने भी विरति प्राप्त नहीं की। केवल स्थिति आचार का पालन करने के लिये ही वह धर्म देशना हुई थी।

इसी प्रकार श्री अभयदेवसूरि कृत स्थानाङ्गसूत्र की टीका में भी कहा है।

"श्री हरिभद्र सूरिकृताऽऽवश्यक बृहद्वृत्त्यभिप्रायेण तु तदा देवा एवाजग्मुर्नतु मनुष्यादयस्तथा च संक्षेप-तस्तत्पाठः—

भगवतो ज्ञानरत्नोत्पत्ति समनन्तरमेव देवाश्चतुर्विधा उपागता आसन् तत्र प्रव्रज्यादि प्रतिपत्ता न कश्चिद्‌विद्यते, इति भगवान् विज्ञाय विशिष्ट धर्म कथनाय न प्रवृत्तवान्। इत्यादि यावत् ततो ज्ञानोत्पत्तिस्थाने मुहूर्त्तमात्रं देवपूजा जीतमिति' कृत्वाऽनुभूय देशनामात्रं कृत्वा असंख्य कोटि परिवृतो रात्रौ एव विहृत्य द्वादश योजनान्यतिक्रम्याऽपापा-पुर्याः समीपे महसेन वन प्राप्त इत्यादिः।

—"श्री हरिभद्र सूरि कृत आवश्यक सूत्र की वृहद् टीका के आधार पर तो उस समय भगवान के समीप देवता ही आये थे मनुष्यादि नहीं। इस सम्बन्ध मे संक्षिप्त पाठ इस प्रकार है कि भगवान को केवल ज्ञान होने के पश्चात् तत्काल ही चार प्रकार के देव ही आये थे। उनमे दीक्षादि व्रत ग्रहण करने वाला कोई नहीं है, ऐसा जानकर भगवान ने विशिष्ट धर्मोपदेश नहीं दिया। इसके पश्चात् ज्ञानोत्पत्ति के स्थान पर एक मुहूर्त मात्र "देवपूजा जीतमिति" समवसरण की रचना यह देवो की पूजा है, ऐसा कहकर एवं अनुभव कर असंख्य देवो मे परिवृत्त भगवान् रात्रि मे ही बारह योजन का विहार करके अपापा नगरी के निकट महसेन वन मे पधारे।

श्री मद् आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के छठे अध्ययन में भी इसी प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है :—

"तओणं भगवं महावीरे, उत्पन्न नाण दंसणधरे० पुव्वं देवाणं धम्ममाइक्खइ तओ पच्छा मणुस्साणं तओणं० गोयमाईणं समणाणं—— इत्यादि।

—"तत्पश्चात उत्पन्न ज्ञान दर्शन को धारण करने वाले श्रमण भगवान् महावीर ने प्रथम देवताओं को पश्चात् मानवों को एवं उसके पश्चात् गौतम आदि मुनिराजों को धर्मोपदेश प्रदान किया।"

इसका वास्तविक रहस्य क्या है, यह तो बहुश्रुत अथवा केवली भगवान् ही जाने ?

शङ्का—यदि भगवान् की प्रथम देशना मे देवता ही आये थे तो इसमे आश्चर्य जैसो क्या बात है ? क्यों कि मनुष्यादि के अभाव मे विरति कौन ग्रहण कर सकता है ?

समाधान—भगवान् की देशना मे केवल देवो का ही आगमन तो आश्चर्यजनक ही है। इसलिये कि देवों मे भो मिथ्यात्व की विरति एवं सम्यक्त्व की प्राप्ति तो होती ही है। उस समय तो वह भी नही हुई अतः आश्चर्य होना उचित है। इसके सम्बन्ध में आवश्यक सूत्र की वृहद् टीका मे कहा है कि भगवान के धर्म देशना देने पर मनुष्य, सर्व विरति, देश विरति, सम्यक्त्व, सामयिक, श्रुतसामयिक, मे से किसी भी विरति को ग्रहण करते हैं। तिर्यञ्च सर्व विरति को छोड़कर सम्यक्त्व सामयिक एवं श्रुतसामयिक को ग्रहण करते है। यदि मनुष्य अथवा तिर्यञ्चों

मे से कोई भी विरति को ग्रहण करने वाला नही हो तो देवताओं मे अवश्य ही सम्यक्त्व के ग्रहण करने वाले होते हैं।"

इस प्रकार वीर प्रभु की प्रथम देशना मे मनुष्यादि के आगमन एव अनागमन पर विचार जानना चाहिये।

प्रश्न –५ समवसरण मे भगवान् को वन्दन करने के लिये आये हुए देवो के वाहन तीसरे गढ की भूमि से सलग्न रहते हैं अथवा असलग्न ?

उत्तर — समवसरण मे देवो के वाहन तीसरे गढ की भूमि से संलग्न नही रहते ऐसा पाठ श्री भगवती सूत्र के तृतीय शतक के प्रथम उद्देश की वृत्ति मे तामलीतापस के अधिकार मे आया है —

"समवसरणे देवयानानि, भूम्यसलग्नानि स्युरित्यादि।"

प्रश्न –६. समवसरण मे केवली, भगवान्, तीर्थङ्कर को तीन प्रदक्षिणा करके "नमो तीर्थाय" ऐसा कहकर बैठते हैं। अत यहाँ तीर्थ शब्द मे चतुर्विध सघ का बोध होता है अथवा प्रथम गणधर भगवान का ?

उत्तर — यहाँ तीर्थ-शब्द से प्रथम गणधर भगवान् का ही बोध करना चाहिये, चतुर्विध सघ का नही। आचार्य श्री मलय गिरि सूरजी ने भी बृहत्कल्पवृत्ति म इस प्रकार कहा है। जिसका उल्लेख आगे आने वाले प्रश्नोत्तरो मे किया गया है। इस प्रमाण मे केवली भगवान् भी वचन से गणधर भगवान् को नमस्कार करते हैं।

नवपूर्वी एवं आमर्ष औषध्यादि विविध लब्धि सम्पन्न मुनिगण पूर्व दिशा के द्वार से प्रवेश कर त्रिप्रदक्षिणा के साथ यथाक्रम, नमस्तीर्थाय, नमो गणधरेभ्यः, नमः केवलिभ्यः इन शब्दों के साथ नमस्कार करके केवलियों के पीछे बैठते है। शेष मुनिगण भी पूर्वदिशा के द्वार से समवसरण मे प्रवेश करके त्रिप्रदक्षिणा भगवान को वन्दन कर "नमस्तीर्थाय, नमोगणभृद्भ्यः, नमः केवलिभ्यः, नमोऽनिशय ज्ञानिभ्यः" ऐसा कहते हुए अतिशय धारी मुनियों के पीछे वैठते है। इसी प्रकार मनः पर्याय ज्ञानी आदि मुनिगण नमस्कार करते हुए अपने अपने स्थान पर चले जाते हैं।

इसके पश्चात् वैमानिक देवों को देवियां पूर्वद्वार से प्रवेशकर भगवान को त्रिप्रदक्षिणा पूर्वक "नम तोर्थाय, नमः सर्वसाधुभ्यः" ऐसा कहती हुई अनुक्रम से वन्दन करके सामान्य साधुओं के पीछे खड़ी हो जाती हैं, बैठती नही। साध्वियां भी पूर्वद्वार से प्रवेश कर तीर्थकर को प्रदक्षिणा पूर्वक प्रणाम करती हुई तीर्थ एवं साधुओं को नमस्कार करके वैमानिक देवियों के पीछे खड़ी हो जाती है, बैठती नहीं। भवनपति की देवियां, ज्योतिष्क देवियां एवं व्यन्तर देवियां दक्षिण दिशा से प्रवेश कर तीर्थकरादिकों को नमस्कार करती हुई नैऋत्य कोण मे यथानुक्रम खड़ी हो जाती है।

भवणवई जोइसिया बोद्धव्वा वाणमन्तर सुगय।
वेमाणिया य मणुया पयाहिणं जं च निस्साए॥

—भवनपति, ज्योतिष्क, वानव्यन्तरादि देव भगवान् को वन्दन कर वायव्यकोण मे पीछे खड़े रहते है। वैमानिक देव, मनुष्य एवं

मनुष्य स्त्रियाँ प्रदक्षिणा पूर्वक तीर्थङ्करादिको को नमस्कार करके ईशान्य कोण मे यथानुक्रम से खडी रहती हैं।

"ज च निस्साए तिय परिवारो"

—जो देव अथवा मनुष्य जिसके परिवार का होता है वह उसी के समीप खडा रहता है। इसके सम्बन्ध मे आवश्यक सूत्र की टीका मे भी कहा है, परन्तु उसमे इतना पाठ विशेष है —

"अत्र च मूल टीकाकारेण भवनपति ज्योतिष्क-व्यन्तर देवीना भवनपति ज्योतिष्क-व्यन्तर-वैमानिक देवाना मनुष्याणां मनुष्य स्त्रीणा च स्थान निषीदन वा स्पष्टतरै-नोक्त' स्थान मात्रमेव प्रतिपादितम् ॥"

इस प्रसङ्ग में मूल टीकाकार ने भवनपति, ज्योतिष्क, एवं व्यन्तर, देवो की देवियो के लिये, तथा भवनपति, ज्योतिष्क, व्यन्तर एव वैमानिक देवो और मनुष्यो तथा मनुष्यस्त्रियो के लिये खडा रहना या बैठना ऐसा स्पष्ट रूप से कुछ भी नही कहा है, केवल स्थान मात्र का उल्लेख किया गया है।

पूर्वाचार्यो के उपदेशो से लिखी गई पट्टिकाओ एव चित्रो के देखने से यह मालूम होता है कि सभी देवियाँ बैठती नही हैं, खडी रहती है एव देव, मनुष्य तथा स्त्रियाँ बैठती हैं।

श्री आचाराङ्ग सूत्र की वृत्ति के छठे अध्ययन के प्रथम उद्देश में भी यह अधिकार सक्षिप्त में इस प्रकार है —

"उत्थिता द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यतः शरीरेण भावतो ज्ञानादिभिः तत्र स्त्रिय. समवसरणस्था उभयथा-

समाधान—

राओवणीय सींहासणो अनिविट्ठो व पायपीढं मि।
जिट्ठो अन्नयरो वा गणहारि कहइ बीयाए॥

—राजाओं के द्वारा लाये गये सिहासन पर अथवा उसके अभाव में भगवान के पाद पीठ पर बैठकर मुख्य अथवा अन्य गणधर दूसरी पौरुषी मे धर्मदेशना देते हैं।

प्रश्न :–६. समवसरण मे भगवान के सन्मुख अल्प ऋद्धि वाले देव एवं मनुष्य महर्द्धिक देव तथा मनुष्यों का प्रणामादि से सत्कार करते है या नहीं ?

उत्तर :— समवसरण में अल्पर्द्धि वाले देव तथा मनुष्य महर्द्धिक देवों एवं मनुष्यों का प्रणामादि मे सत्कार करते हैं। यदि वे नही करते है तो आज्ञा भंग का दोष प्रसंग आता है।

इस के सम्बन्ध मे वृहत्कल्प भाष्य एवं आवश्यकसूत्र की वृहद्-वृत्ति मे इस प्रकार कहा है :—

एंतं महड्ढियं पणिवयंति, ठियमवि वयंति पणमंता।
ण वि जंतणा ण विकहा ण परोप्पर मच्छरो ण भयं॥

—अल्प ऋद्धि वाले देव भगवान के समवसरण मे चाहे पूर्व से ही बैठे हों, फिर भी वे बाद में आये हुए महर्द्धिक देवों को प्रणाम करते है तथा महर्द्धिक देव यदि पूर्व स्थित हों तो भी जो अल्प ऋद्धि वाले बाद मे आते हैं वे पूर्वस्थित महर्द्धिक देव यदि पूर्व स्थित हों तो भी जो अल्प ऋद्धि वाले बाद मे आते है वे पूर्वस्थित महर्द्धिक देवों को प्रणाम करते हुए पुनः अपने स्थान पर जाते है।

इसी प्रकार का आदर सत्कार मय सद्व्यवहार अल्पऋद्धि वाले विवेकी मनुष्यो को जिन मन्दिर एव उपाश्रय मे महर्द्धिक मनुष्यो के साथ करना चाहिये। क्यो कि जैनधर्म का मूल विनय है। अन्यथा जो विनय नही करता है तो जिस प्रकार गृहस्थ जीवन मे रहते हुए एक बार विद्वानो की सभा मे आर्यरक्षित सूरिकी अज्ञता प्रगट हुई उसी प्रकार अविनयवश उसकी अज्ञानता दिखाई देती है।

इस सम्बन्ध मे विशेष आवश्यकवृत्ति मे उल्लेख किया गया है। पौषध विधि प्रकरण की टीका म तो वृहन्चैत्य वन्दन के अधिकार मे यहा तक लिखा है कि चैत्यवन्दन के लिये आये हुए गुरुओ को भी नमस्कार करे। योगशास्त्र की टीका मे तो "विस्तार विधिना चैत्ये साधुवन्दनाधिकारी ज्ञातव्य ऐसा कहा है। इसी प्रकार सिद्धान्त मे भी कहा है कि श्री कृष्ण वासुदेव श्री नेमिनाथ स्वामी के समक्ष- "सव्वेसाहू बार सावत्त वदणेण वदंत्ति" समस्त साधुओ को द्वादशावर्त वन्दन करते हैं। इसी प्रकार चैत्य वन्दन भाष्य मे खमासमण देकर- "जावंति के वि साहू" इत्यादि गाथा बोलने का कहा है इसलिये जिन मन्दिर मे साधु आदि को वन्दन करना सर्वथा उचित है। इसलिये अपने आपको पण्डित मानने वाले जो कोई आधुनिक जिन मन्दिर मे साधु वन्दन का निषेध करते है, उनका कथन अयथार्थ एव तथ्य से हीन है। शास्त्रो मे तो जिनमन्दिर मे कुटुम्बीजनो को जुहार (रूढिगत प्रणाम) करने का निषेध किया गया है।

प्रश्न-१० वर्तमान समय मे दीक्षादि के अवसर पर आचार्य आदि उठकर शिष्यो के सिर पर वासक्षेप डालते है

वह भगवान की आज्ञा के अनुसार है या आज्ञा के विरुद्ध ?

उत्तर— दीक्षा के अवसर पर वासक्षेप डालना जिनाज्ञानुसार ही है। भगवान महावीर स्वामी भी गौतम स्वामी आदि गणधरों के मस्तक पर वासक्षेप डाला था।

इस विषय मे आवश्यकसूत्र की बृहत् टीका में निर्युक्ति की गाथा के व्याख्यान मे इस प्रकार कहा है:—

" भगवन्मुखात् त्रिपदी श्रवणात् गणभृता मुत्पाद-व्यय ध्रौव्य युक्तं सदिति प्रतीति रूप जायते अन्यथा सत्ता योगात् ।"

—भगवान् के मुख से त्रिपदी श्रवण करने से गणधरों को "उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त ही सत् है" ऐसी प्रतीति होती है अन्यथा सत्ता का अयोग होता है।

इसके बाद पूर्वभव की भावित मति वाले वे गणधर द्वादशाङ्गी की रचना करते है। तब—

"भगवं अणुण्णं करेति। सक्कोय दिव्वं वइरमयं थालं दिव्वचुण्णाणं भरेऊण सामिमुवगच्छति ताहे सामी सीहासणाओ उट्ठेत्ता पडिपुण्णं मुट्ठिं केसराण गेण्हति ताहे गौतम सामिपमुहाइक्कारस वि गणधरा ईसिं ओणया परिवाडी ए ठायंति ताहे देवा आउज्जगीत सद्दं निरुंभंति ताहे सामी पुव्वं तित्थं गोतम सामिस्सदव्वेहिं गुणेहिं पज्ज-

वेहिं ते अणुजाणामि त्ति भणति चुरणाणियसे मीसेच्छुहति ततो देवा वि चुरणवासं पुप्फवासं च उवरिं वासंति गण च सुधम्मसामिस्स धुरे ठवित्ता अणु जाणति एवं सामाइयस्स अत्थो भगवतो निग्गओ सुत्त गणहरे हिं तो णिग्गतम् ॥''

—भगवान् अनुज्ञा करते हैं एव इन्द्र दिव्यचूर्ण का वज्रमय थाल भर कर भगवान् के समीप जाते है। इसके बाद भगवान् सिंहासन पर से उठकर केशर मिश्रित चूर्ण की पूरी मुट्ठी भरते हैं। तब गौतम स्वामी आदि प्रमुख ग्यारह गणधर कुछ झुककर अनुक्रम से खडे हो जाते है। उस समय देवता वाद्यध्वनि एव मंगल गीतो मे वातावरण को परिपूरित कर देते है। ऐसे अवसर पर भगवान् गौतम स्वामी को द्रव्य, गुण एव पर्याय द्वारा तीर्थ की अनुज्ञाकर उनके मस्तक पर चूर्ण (वासक्षेप) की मुट्ठी डालते है। बाद मे देवता उनके ऊपर चूर्ण एव पुष्पो की वृष्टि करते है। और सुधर्मा स्वामी को गच्छ के प्रमुख स्थान पर स्थापित कर अनुज्ञा करते हैं।

इस प्रकार सामायिक का अर्थ भगवान् ने बताया और उसको सूत्र रूप मे गणधरो ने कहा अर्थात् सूत्रो की रचना गणधरो ने की।

उपर्युक्त अश मे दीक्षादि के अवसर पर शिष्यो के मस्तक पर वासक्षेप डालना जिनाज्ञानुमत ही है।

प्रश्न– ११–केवली भगवन्तो के जो वेदनीयादिचार कर्म शेष रहते हैं, उनका स्वरूप क्या है ?

उत्तर–केवली भगवन्तो के वेदनीयादि चार कर्म जीर्ण वस्त्र के समान रहते हैं, ऐसा गुणस्थान क्रमारोह की वृत्ति

में कहा है। कतिपय अज्ञानी समुद्घात के पूर्व ही वेदनीयादि कर्मों को दग्धरज्जु के समान मानते है, यह आगम विरुद्ध होने के कारण मिथ्या है।

सूत्रकृतांग की टीका के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत आहार परिज्ञा नामक तीसरे अध्ययन मे भी वोटक मत का खण्डन करने के लिये इस प्रकार कहा है—

"यदपि दग्धरज्जुस्थानिकत्वमुच्यते वेदनीयस्य, तदपि अनागमिकमयुक्तिसंगतं चागमे ह्यत्यन्तोदयः सातस्य केवलिनि अभिधीयते।

—यदि वेदनीय कर्म को दग्धरज्जु के समान कहा जाता है तो वह आगम विरुद्ध एवं युक्तिरहित है, क्योंकि आगम में केवलियों के लिये अत्यन्त सातावेदनीय का उदय कहा जाता है। विशेषकर केवली समुद्घात के बाद वेदनीय कर्म दग्धरज्जु तुल्य रहता है। जैसा कि आचारांग सूत्र की टीका के प्रथम श्रुतस्कन्धान्तर्गत उपधानश्रुत अध्ययन की पीठिका में कहा है—

तथा दहनं केवलि समुद्घात ध्यानाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणं शेषस्य च दग्धरज्जु तुल्यत्वापादनमित्यादि।

—इस प्रकार जलाना अर्थात् केवली समुद्घात मे ध्यान रूपी अग्नि से वेदनीय कर्म को भस्म करना और शेष कर्मों को दग्धरज्जु के समान करना चाहिये।

इसी प्रकार इस सम्बन्ध में आवश्यक बृहद्वृत्ति के द्वितीय खण्डान्तर्गत कायोत्सर्गाधिकार मे भी कहा है—

"दग्धरज्जुकल्पेन भवोपग्राहिणा कर्मणाल्पेनापि सता केवलिनोऽपि न मुक्तिमामादयन्ति ।"

—दग्धरज्जु के समान भवोपग्राही कर्म थोडा भी रहे तो केवली मुक्ति नही प्राप्त कर सकते; यहा भी अल्पपद ग्रहण करने से केवली समुद्घात के बाद का समय एव चौदह गुण स्थान का समय ही सम्भव होता है।

इस आधार पर यह समझना चाहिये कि केवलियो के वेदनीयादिकर्म दग्धरज्जु के समान नही होते।

प्रश्न-१२-एकावतारी देवो के च्यवन चिन्ह प्रगट होते हैं कि नही ?

उत्तर—एकावतारी देवो के च्यवनचिन्ह प्रगट नही होते। तीर्थंकर जीवो के तो और भी विशेष रूप से सातावेदनीय रहती है, जिसके सम्बन्ध मे परिशिष्ट पर्व मे श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है—

राजन्नेकावताराणामन्तकालेऽपि नाकिना।
तेजः क्षयादिच्यवनलिंगान्याविर्भवन्ति न ॥

—हे राजन। एकावतारी देवो के अन्तकाल के समय तेज क्षय आदि च्यवन चिन्ह प्रगट नही होते।

श्री शीलाकाचार्य ने भी सूत्र कृताग की टीका मे केवली आहार के अधिकार मे इस प्रकार कहा है—

"निपच्यमान तीर्थंकरनाम्नो देवस्य च्यवनकाले षण्मासकाल यावदत्यन्त सातोदय एव ॥"

—विपच्यमान तीर्थंकर नाम कर्म वाले देव के च्यवन काल में छः मास तक अत्यन्त सातावेदनीय का उदय होता है।

प्रश्न–१३–उपशान्त मोहादि अर्थात् ११, १२, १३ गुणस्थानवर्ती साधु, प्रकृति, स्थिति, रस एवं प्रदेश इन चार प्रकार के बन्ध भेदों मे किस प्रकार का कर्म बन्धन करते हैं।

उत्तर—उपर्युक्त गुणस्थान वर्तीसाधु प्रकृति से एक सातावेदनीय कर्म ही बांधते है। क्योकि उनमे कषायो का अभाव रहता है एवं कषायाभाव से स्थिति का अभाव रहता है और स्थिति के अभाव से बध्यमान कर्म ही निर्जरा को प्राप्त हो जाता है। इसीप्रकार रस मे पंचानुत्तर वासी देवों के सुख से अधिक रस वाले कर्म बंधते है। एवं प्रदेश से स्थूल, रूक्ष, तथा शुक्लादि वर्ण वाला बहुप्रदेशी कर्म बंधता है। कहा भी है कि—

अप्पं वादर मउअं बहुं च लुक्खं च सुक्किलं चेव।
मंदं महव्वयंति य साता बहुलं च तं कम्मं॥

—स्थिति के अभाव से अल्प, परिणाम से बादर, विपाक से मृदु, प्रदेश से अधिक प्रदेशी, स्पर्श से रूखा, रंग से श्वेत लेप से मन्द अर्थात् स्थूल चूर्ण की अत्यन्त घुटी हुई चिकनी भींत पर पड़े हुए लेप के समान महाव्ययी अर्थात् एक समय मे ही नष्ट होने वाले अनुत्तर देवों से भी अधिक सुख वाले कर्म बंधते हैं।

यह अधिकार आचारांग सूत्र की टीका के दूसरे अध्ययन के प्रथम उद्देश्य मे आया है।

प्रश्न १४—जिस जीव ने ससार परिभ्रमण करते हुए चार बार आहारक शरीर प्राप्त कर लिया, वह जीव उसी भव मे मोक्ष जाता है या नरकादि अन्यगति मे भी जाता है ?

उत्तर— चार बार आहारक शरीर प्राप्त करने वाला जीव उसी भव मे मोक्ष जाता है, दूसरी गति मे नही जाता इस सम्बन्ध मे प्रज्ञापनावृत्ति के छत्तीसवें समुद्घात पद मे कहा है—

"चतुः कृत्वः आहारक शरीरस्य नरक गमनाभावादिति ।"

जिसने चार बार आहारक शरीर प्राप्त कर लिया वह नरक मे जाता ही नही है ।

इसके बाद दूसरी गति मे गये बिना आहारक समुद्घात के बिना अवश्य ही मोक्ष मे जाता है ।

इस प्रकार चार बार आहारक शरीर वाला जीव उसी भव मे मोक्ष को प्राप्त होता है ।

प्रश्न १५—कोई चारित्रवती स्त्री पचानुत्तर विमान मे जाती है या नही ?

उत्तर —उस प्रकार के अध्यवसायो का सद्भाव होने से सयमवती (चारित्रवती) स्त्री पचानुत्तर विमान मे जाती है ।

प्रज्ञापना वृत्ति मे कर्म प्रकृति नामक २३ वें पद के अन्त मे कहा है—

"मानुषी तु सप्तम नरक पृथ्वी योग्यमायुर्न बध्नाति, अनुत्तर सुरायुस्तु बध्नाति ।"

—मनुष्य की स्त्री (मानुषी) सप्तम नरक योग्य आयु नहीं बांधती, किन्तु अनुत्तर देव लोक का आयुष्य अवश्य बांधती है। इस सम्बन्ध मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में नेमि एवं राजीमती के पूर्व भव का दृष्टान्त प्रसिद्ध है; जो इस प्रकार है—

" ततो ऽपराजिताभिख्ये विमाने त्रिदशो धनः यशोमत्यपि चारित्रं चरित्वा तत्र सोऽभवत् । "

इसके बाद अपराजित नाम के विमान मे धन एवं यशोमति चारित्र का पालन कर देव हुए।

श्री विजयचन्द्र चरित्र मे भी प्रदीप पूजा के अधिकार में कहा है—

सा सग्गाओ चविउं एत्थ वि जम्मंमि तुहसही होइ ।
तत्तो मरिउं तुब्भे सव्वट्ठे दो वि देवत्ति ॥

वह स्वर्ग मे च्यव कर जन्म लेने के पश्चात् तेरी सखी होगी। बाद मे तुमदोनो ही मर कर सर्वार्थ सिद्ध विमान में देव बनोगे।

प्रश्नः-१६–लोक एवं धर्म में पुरुषों की प्रधानता होने पर भी जो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के तपश्चर्यादि प्रमुख धर्मकार्यो में विशेषरूप से सामर्थ्य एवं उद्यम दिखाई दे रहा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर :—उस प्रकार के शुभ अध्यवसायों से प्राप्त एवं उनका सत्स्वभाव ही इसका मूल कारण है। दूसरा कोई कारण नहीं। इसीलिये आगमों मे इनका (स्त्रियों का) मुक्तिगमन माना है तथा सप्तमनरक पृथ्वी गमन निषिद्ध है। ऐसा कहा है—

यथा–तद विहु जुत्ताजुत्ती जम्हा दीसइ अणुत्तरं विरियं ।
धम्म विसयंमि तासि तहा तहा उज्जु मतीण ॥
किं बहुणा सिद्धमिणं लोए लोउत्तरे वि नारीणं ।
निय निय धम्मायरणे पुरिसेहि तो विसेसेणं ॥
सुहभाव मालिणीओ दाण दयासील संजमधरीओ ।
सुत्तस्स पमाणत्ता लहंति मुत्ति सुनारीओ ॥

—जिस प्रकार जिन कारणों से स्त्रियों में धर्म के विषय में अपूर्व सामर्थ्य दिखाई देता है, उससे निस्सन्देह वे मुक्ति पद प्राप्त करने की अधिकारिणी हैं । अधिक क्या कहा जाय, लोक लोकोत्तर दृष्टि से भी यह कथन सिद्ध है कि अपने अपने धर्म का आचरण करने वाले पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में शक्ति एवं उद्यम अधिक होता है । शुभस्वभाववाली' दान, दया, शील एवं संयम को धारण करने वाली, सूत्रों को प्रमाण रूप मानने वाली ऐसी उत्तम स्त्रियां मुक्ति प्राप्त करती हैं । इस प्रकार पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में धर्म के प्रति विशेष भाव रहता है ।

प्रश्न-१६–सेवार्त संहनन वाला एवं जघन्य यत्न वाला जीव ऊर्ध्वगति तथा अधोगति में कहां तक उत्पन्न हो सकता है ।

उत्तर'—ऊँचे चार देवलोक तक तथा नीचे में द्वितीय नरक तक उत्पन्न होता है, क्योंकि ऐसे जीव के अल्पबली होने से शुभ एवं अशुभ परिणाम भी मन्द हो जाते हैं ।

"यः सेवार्त्तसंहननी जघन्यवलो जीवस्तस्य परिणामोऽपि शुभोऽशुभो वा मन्द एव भवति, न तीव्रः, ततः शुभाशुभकर्मवन्धोऽपि तस्य स्वल्पतर एव, अतएव अस्य ऊर्ध्वगतौ कल्पचतुष्टयाद् ऊर्ध्वम्, अधोगतौ नरक-पृथ्वीद्वयाद् अध उपपातो न भवति इति प्रवचने प्रतिपादनात्, एवं कीलिकादि संहननेस्वपि भावना कार्या इति एवमन्यत्रापि दृश्यम्।"

जो जीव सेवार्त्त संहनन एव जघन्य वल वाला होता है तो उसके परिणाम भी शुभ अथवा अशुभ दोनों ही मन्द होते हैं तीव्र नहीं इसलिये शुभ या अशुभ कर्म का बन्ध भी थोड़ा ही होता है। अतएव यह जीव ऊर्ध्वगति मे चार देवलोक तक तथा अधोगति में दो नरक तक जाता है अर्थात् वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रवचन मे कहा है कि इसी आधार पर कीलिका आदि संघयण के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये।

प्रश्नः-१८-शरीर त्याग (मृत्यु) के समय जीव किस किस मार्ग से निकल कर किस किस गति मे जाता है ?

उत्तर :—मृत्यु समय में जीव यदि पांवों से निकलता है तो नरक मे, जंघाओ से निकलने पर तिर्यग्गति में, हृदय से निकले तो मनुष्य गति मे, मस्तक से निकलने पर देव-गति में एवं सर्वाङ्गों से निकलने पर सिद्धि गति (मोक्ष) में जाता है।

श्री स्थानाङ्ग सूत्र के पञ्चम अध्ययन के तृतीय उद्देश्य मे कहा भी है—

यथा-पंच विहे जीव निज्जाण मग्गे, पं० तं० पायेहिं,

उरूहिं, उरेणं सिरेणं सव्वंगेहि ५ पाएहिं निज्जा-
यमाणे निरयगामी, भवति, उरूहिं निज्जायमाणे
तिरियगामी भवइ, उरेण निज्जायमाणे मणुयगामी
भवति सिरेण निज्जायमाणे देवगामी भवति, सव्वंगेहिं
निज्जायमाण सिद्धिगति—पज्जवसाणे, पन्नत्ते इति ।

प्रश्न -१९—थीणद्धि निद्रा वाले जीव का बल वासुदेव से आधा
कहा है, सो वह इस काल में है कि नहीं ।

उत्तर —वह बल इस समय इस क्षेत्र मे नहीं है क्यों कि यह
बल प्रथम संघयण वाले को ही होता है। इस
समय थीणद्धि निद्रा वाले का बल सामान्य लोक बल
से दुगना तिगुना एवं चौगुना विशेष होता है,
अधिक नहीं। इसके सम्बन्ध मे निशीथचूर्णि की
पीठिका मे इस प्रकार कहा है—

यथा—थीणद्धीबल पढमसंघयणी कुव्वइ केसवबलद्धसरिसं, केसवो
वासुदेवो तस्स जं बलं तस्सद्धबलो सो थीणद्धिणो
भवति तं च पढम संघयणिणो, इयाणिं पुण सामन्न
बलादुगुणं चउगुणं वा भवति, सो एवं बलजुत्तो,
मा गच्छं रूसितो विणासेज्ज तम्हा सो लिंगपारंची
कायव्वो सोय साणुणं त भन्नइ "सुय लिंग णत्थि
तुह चरणं जइ एवं गुरुणा भणितो मुक्क तोमोहण
अह न मुयइ ता सवो समुदितो हरति, न एक्को वा
एगस्स पदोसं गमिस्सति" दुट्ठो य वावाइस्सति

लिंगावहारणिय मणत्थं भणाइ– "अविकेवलगाहा" अवि संभावणे किं संभावयति इमं जतिवि तेणे व भवग्गहणेण केवल मुप्पाडेइ तहवि से लिंगं ण दिज्जइ तस्स वा अन्नस्स वा एस नियमो चणातिसइणो नो पुण अवहिणाणातिसती सो जाणइ ण पुण एयस्य थीणद्धी निद्दोदओ भवति देह से लिंगं इतरहा न देइ लिंगावहारेणं पुण कज्जमाणे अयमुपदेशो, देसव-ओत्ति सावगो होहि थूलग पाणादिवायादिनियत्तो पंचाणुव्वयधारी ताणि वा ण तरसि दंसणं गेण्ह दंसण सावगो भवाहित्ति भणितं भवइ अह एवं पि अणुणेज्जमाणो नेच्छई लिंगं मोत्तुं ताहे राती सत्तुं मोत्तुं पलायन्ति देशान्तरं गच्छन्तीत्यर्थः

—थीणद्धि बल की प्ररूपणा इस प्रकार की गई है :—
वासुदेव मे जो बल होता है उसमे आधा बल थीणद्धि निद्रा वाले मे होता है। यह बल प्रथम संघयण वाले का जानना चाहिये। इस काल मे सामान्य मनुष्य की अपेक्षा थीणद्धिनिद्रा वाले मे दुगना, तिगुना एवं चौगुना बल होता है। ऐसे बल वाला साधु, क्रुद्ध होने पर भी गच्छ का नाश न करे इसके लिये उसको 'लिंग पारंचो' करना चाहिये अर्थात् उसको प्रेमभाव से कहना चाहिये कि "तू साधुवेश छोड़ दे। तुझे चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है!" ऐसा कहने से यदि वह वेश छोड़ देता है तो ठीक है नहीं तो संघ को चाहिये कि वह मिलकर उसका वेश उतारले! यदि अकेला कोई एक व्यक्ति वेश उतारने का प्रयास करता है तो वह दुष्ट साधु उसको

अकेला जानकर मारने की चेष्टा कर सकता है, जिससे वेश उतरवाने वाले का अनर्थ भी हो जाता है। "अपि केवल गाहा"–यहा अपि शब्द सम्भावना अर्थ मे है– जैसे वह सम्भावना करता है कि यदि यह थीणद्धिनिद्रा के उदयवाला जीव उसी भव मे केवल ज्ञान उपार्जित करे, ऐसा हो तो भी उसको अथवा दूसरे को साधुवेश नही देना चाहिये। यह नियम अतिशयरहित साधुओ के लिये है। जो साधु अवधिज्ञान के अतिशयवाला हो तो वह उस ज्ञान मे यह जानले कि इसको थीणद्धि निद्रा का उदय नही होता। इसके बाद उसको साधु वेश दे। इसके अतिरिक्त नही देना चाहिये। वेश उतारने मे पूर्व थीणद्धिनिद्रा वाले साधु को इस प्रकार उपदेश देना कि हे भद्र! तुझे चारित्र की प्राप्ति नही हुई है इसलिये तू साधु वेश छोडकर स्थूल प्राणातिपातादि का निवृत्ति रूप पाच अणुव्रतधारी श्रावक हो, अथवा पाच अणुव्रत धारण नही कर सकता है तो सम्यक्त्व ग्रहणकर और दर्शन श्रावक हो जा! इस प्रकार समझाने पर भी जो वेश छोडने को तैयार नही होवे तो उसको सोया हुआ छोडकर अन्य साधुओ को दूसरे प्रदेश (स्थान) मे चले जाना चाहिये।

यही बात बृहत्कल्प मे भी कही है। जीतकल्प की टीका मे तो इस प्रकार लिखा है —

"यदुदयेऽतिसंक्लिष्ट परिणामाद् दिनदृष्टमर्थमुत्थाय प्रसाधयति केशवार्द्धबलश्च जायते तदनुदयेऽपि च स शेष पुरुषेभ्यस्त्रिचतुर्गुणबलो भवति इय च प्रथम संहनिन एव भवति इत्युक्तमस्ति।"

—थीणद्धि निद्रा के उदय मे अत्यन्त संक्लिष्ट परिणाम से दिन म सोचे हुए कार्य यदि रात्रि म उठ कर करे तो उस समय

उसमें वासुदेव से आधा बल होता है एवं उस निद्रा के अनुदय मे भी उस मनुष्य मे दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा तिगुना एवं चौगुना बल होता है। यह बात प्रथम संघयण वाले को लक्ष्य करके कही गई है।

प्रश्न :-२०-स्त्यानर्द्धित्रिक के उदय मे जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है या नही ?

उत्तरः—स्त्यानर्द्धित्रिक के उदय वाले जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती है।

इसके सम्बन्ध मे आचारांग सूत्र की टीका मे तीसरे अध्ययन के प्रथम उद्देश मे कहा है :—

यथा—"स्त्यानर्द्धित्रिकोदये सम्यक्त्वावाप्तिर्भवसिद्धिकस्यापि न भवतीति। किंच यदि स्त्यानर्द्धि निद्रावतः कदाचिदज्ञानतश्चारित्रं दत्तं भवेत्तर्हि तस्य शास्त्रोक्त विधिना लिंगं परित्याज्यं। तद् विधिस्तु प्राक्तन प्रश्नोत्तरादवसेयः। कथं तर्हि कर्मग्रन्थादौ षष्ठं प्रमत्तगुणस्थानं यावत् स्त्यानर्द्धि त्रिकोदयः प्रतिपाद्यते, उच्यते, मतान्तरमेतदिति संभाव्यते यद्वा पूर्व प्राप्त सम्यक्त्वादेः स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयस्तत्र प्रतिपादितोऽस्ति इति न कश्चिद् विरोधः तत्त्वं तु ज्ञानिगम्यम्।"

—स्त्यानर्द्धित्रिक के उदय में भवसिद्धिक जीव को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती। यदि कदाचित् थीणद्धि निद्रा वाले

को अनजान मे चारित्र दे दिया हो तो शास्त्रोक्त प्रमाणानुसार उसका वेश उतार लेना चाहिए।

शङ्का—यदि ऐसा है तो फिर कर्मपन्थादि मे छटे प्रमत्त गुणस्थान तक स्त्यानर्द्धित्रिक के उदय का कैसे प्रतिपादन किया गया है ?

समाधान—यह बात मतान्तर मे सम्भव हो सकती है। अथवा पूर्वप्राप्त सम्यक्त्वादि जीव को स्त्यानर्द्धित्रिक निद्रा का उदय होना बताया गया है। अन्त किसी भी प्रकार का विरोध नही है। वास्तविक तत्व तो केवली भगवान् ही जाने।

प्रश्न -२१ एक जीव को एक भव मे कितने वेदो का उदय होता है ?

उत्तर —किसी जीव को कर्म की विचित्रता से तीन वेदो का भी उदय होता है। जिस प्रकार किसी आचार्य के कपिल नामक शिष्य को उसके विचित्र कर्मो के कारण तीनो वेदो का उदय हुआ था।

कपिल नामक इस शिष्य के जीवन मे उदय होने वाले तीनो वेदो का (उसके विचित्र कर्मो के साथ) विस्तार पूर्वक विवेचन निशीथ सूत्र की पीठिका मे तथा बृहत्कल्प में भी किया गया है।

प्रश्न -२२ प्रमादयुक्त सराग सयमी साधू को अल्पर्द्धिक प्रत्यनीक देव छल सकते है, ऐसा शास्त्रो मे सुना जाता है। परन्तु यतना युक्त अप्रमादी सराग सयमी साधु को कोई छल सकता है या नही ?

उत्तर —जो देव अल्पऋद्धि वाले तथा अर्धसागरोपम मे कम स्थिति वाले होते है वे अप्रमादी यतनायुक्त साधु को

नहीं छल सकते, और जो अर्धसागरोपमादि स्थिति से युक्त हों, वे पूर्वभव के वैर का स्मरण होने पर यतना युक्त अप्रमादी साधु को छल भी सकते हैं, क्योंकि उनमे शक्ति का सद्भाव होता है।

इसके सम्बन्ध में निशीथचूर्णि के उन्नीसवें उद्देश में कहा है :—

यथा—"पडिसिद्ध काले सज्झायं करे तस्स इमे दोसा, अन्नतर गाहा सराग संयतो सरागत्त णतो इंदिय विसयादि अन्नतर प्रमादजुत्तो हवेज्ज विसेस तो महा महेसु तं पमादजुत्तं पडिणीय देवता अप्पाड्ढिया खित्तादि छलणं करेज्जा, जयणा जुत्तं पुण साहुं जो अप्पाड्ढितो देवो अद्धोदहीतो ऊणाट्ठिती सो न सक्केति छलितुं अद्धसागरोवमट्ठितितो पुण जयणा जुत्तं पि छलेति, अत्थि से सामत्थ तं पि पुव्ववेर संबध सरणातो कोत्ति छलेज्जा इत्यादि महा महेसुत्ति इन्द्र महोत्सवादिषु इत्यर्थः।"

इसका भावार्थ ऊपर की पंक्तियों मे आ गया है।

प्रश्न :-२३-अपनी ग्यारह प्रतिमाओं को वहन करने वाला श्रावक सम्यक् प्रकार से प्रतिमा का वहन करके पुनः घर आता है या नही ?

उत्तरः—प्रतिमा वहन करने के पश्चात् कोई श्रावक पुनः घर भी आता है।

निशीथ चूर्णि के के सोलहवे उद्देश मे साधु के पात्र गवेषणा के अधिकार मे इसका उल्लेख इस प्रकार आता है —

समणो वासगो वा पडिमं करेउ घरं पच्छागतो तं पडिग्गहगं साधूण दिज्ज अहारूड ।"

—श्रावक प्रतिमाएँ पूर्णकरके पुन घर आवें तो पात्र आदि उपकरण साधुओ को दे दे। इसी प्रकार का आशय बृहत्कल्प वृत्ति के द्वितीय खण्ड मे तथा उपासक प्रतिमा पञ्चाशक सूत्र वृत्ति मे भी कहा गया है।

प्रश्न -२४-इसकाल मे समय समय पर प्रत्येक द्रव्य मे प्रत्येक समय अनन्त पर्यायो की हानि होती है, ऐसा सुना जाता है सो यह शास्त्र सम्मत है अथवा लोकोक्ति मात्र ही ?

उत्तर —वर्तमान समय मे प्रति द्रव्य प्रत्येक के आश्रित होकर समय समय पर अनन्त पर्यायो की हानि वाला होता है, यह कथन शास्त्रानुसार ही है, लोकोक्ति मात्र नही। इस सम्बन्ध मे पचकल्प भाष्य मे कहा है —

यथा-"भणियच दूसमाए, गामा होहिंति तु मसाण समा।
इयरेत्त गुणहानि, काले वि उ होति माहाणी ॥
समये समये णता, परिहायंते उ वण्ण माईया।
दव्वाइ पज्जाया, अहोरत्तं तत्तियं चेव ॥
दूसम अणु भावेणं, साहू जोगा तु दुल्लभा खेत्ता।
काले वि य दुम्भरवा, अभिक्खण हुति उमरा य ॥

दूसण अणुभावेण, य परिहाणी होति ओसह बलाणं ।
तेणं मणुयाणं पि उ, आउग सेहादि परिहाणी ॥

—दुःषम काल में ग्राम–नगरादि भी श्मशान के समान हो जाते है। अतः क्षेत्र की हानि तथा काल मे भी हानि होती है। इसी प्रकार वर्ण, गन्ध, रसादि के अनन्त पर्याय भी समय समय पर घटते है, अर्थात् उनकी हानि होती है, वैसे ही अहोरात्रि के पर्यायों की भी हानि होती है।

दुषम काल के प्रभाव से साधुओं के योग्य क्षेत्र मिलना दुर्लभ हो जाता है, दुष्काल एवं बार बार अन्य उपद्रव भी होते रहते है तथा धान्य का सत्त्व भी कम पड़ जाता है, जिससे मनुष्यों का बौद्धिक बल एवं आयु घट जाती है।

प्रत्येक वस्तु के वर्णादि पर्याय अनन्त होते है एवं वे अनन्त अत्यन्त महान् माने गये है। जिसमे समय समय पर प्रत्येक वस्तु के अनन्त पर्याय कम होते है। परन्तु वे अनन्त अल्प होने से एवं अवसर्पिणी के समय असंख्यात होने से प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक समय अनन्त पर्यायों का नाश होने पर भी तत्काल सभी वस्तुओं के नाश होने का प्रसंग आता ही नहीं है।

इस व्याख्या से जो ऐसा कहते है कि एक समय में प्रतिद्रव्य मे एक एक पर्याय का नाश होता है, ऐसे अनन्त पदार्थो की अपेक्षा से अनन्त पर्याय की हानि होती है—यह भ्रम भी दूर हो जाता है। इससे अधिक इस सम्बन्ध में और विस्तृत जानकारी प्राप्त करने की इच्छा रखने वालों को जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र की वृत्ति आदि देखना चाहिए।

प्रश्न २५–कार्तिक सेठ और गैरिक तापस के सम्बन्ध मे ऐसा कहा जाता है कि गैरिक तापस ने द्वेष वश कार्तिक सेठ की पीठ पर थाल रखकर भोजन किया, यह शास्त्र सम्मत है या नही

उत्तर –यह कथन भ्रान्तिमूलक ही है, जबकि " सनत्कुमार-चक्री के पुरातन तृतीय भव मे जिन धर्म नामक श्रावक की पीठ पर थाल रखकर अग्नि शर्मा नामक तापस ने भोजन किया, उसमे वे दोनों शक्र एव ऐरावण हुए" इस प्रकार सम्बन्ध साहश्य से भ्रम वश इस सम्बन्ध मे भी किसी आधुनिक कल्प वृत्ति म उक्त कथन दिखाई देता है, परन्तु आवश्यक वृत्ति, पञ्चाशक विवरण एव ऋषि मण्डल की वृत्ति आदि प्राचीन ग्रन्थो मे ऐसा कथन नही मिलता है। उनमे तो यह कहा है कि कार्तिक सेठ ने राजा की आज्ञा से गैरिक तापस को अपने हाथो मे भोजन कराया उसमे गैरिक तापस ने द्वेष वश नाक के ऊपर तर्जनी अ गुली घुमाकर सेठ को पराजित किया। इतना ही कहा ह। आवश्यक बृहद् वृत्ति का पाठ सक्षेप मे इस प्रकार है।

"तो पच्छाणेण परिवेसिय सो परिवसिज्जंते अंगुलिं चालेति क्हिने।"

–बाद मे राजा की आज्ञा से सेठ ने भोजन परोसा एव परोसते समय तापसने नाक ऊपर तर्जनी अ गुली घुमाई।

प्रश्न २६–देव और असुर जब परस्पर युद्ध करते है, उस समय उनके शस्त्र किस प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—देवता तो जिन-जिन तृण काष्टादिकों को स्पर्श करते है, वे ही उनके अचिन्त्य पुण्य प्रभाव से शस्त्र बन जाते है और असुरों के तो उनके नित्यप्रति के विकुर्वित ही शस्त्र होते है क्योंकि देवो की अपेक्षा उनका पुण्य मन्द रहता है। इससे तृणादि पदार्थ स्पर्शमात्र से शस्त्र-रूप नही बनते। यही बात श्री भगवती सूत्र के १८ वें शतक के अन्तर्गत सप्तम उद्देश में कही है :—

यथा—देवासुरेसु णं भंते संग्गामेसु वट्टमाणेसु किं णं तेसिं देवाणं पहरण रयणत्ताए परिणमंति, गोयमा० जण्णं ते देवा तणं वा कट्ठं वा पत्तं वा सक्करं वा परा-मुसंति तंणं तेसिं देवाणं पहरणरमणत्ताए परिणमंति, जहेव देवाणं तहेव असुरकुमाराणं नो ति णट्ठे समट्ठे असुर कुमाराणं देवाणं णिच्चं विउव्विया पहरण रयणा पण्णत्ता।

—हे भगवन्! देवो एवं असुरों का जब युद्ध होता है तब देवो के शस्त्ररत्न किस प्रकार के होते है?

हे गौतम! देव, तृण, काष्ठ, कंकर आदि किसी भी वस्तु का स्पर्श करते हैं, वे सब देवताओं के लिये शस्त्ररूप हो जाते है।

शङ्का—जिस प्रकार ये वस्तुएं स्पर्श मात्र से देवताओं के लिये शस्त्र रूप हो जाती हैं उसी प्रकार क्या असुर कुमारो के लिये भी होती है?

समाधान—देवो के समान असुरो के लिये ये वस्तुए स्पर्श मात्र मे शस्त्ररूप नही बनती क्योकि असुर कुमार सदैवसे विकुर्वित शस्त्र वाले माने गये है। अत उनमे देवताओ के समान वह अचिन्त्य पुण्य प्रभाव नही होता जिसके फलस्वरूप उनके स्पर्श मात्र मे कोई भी वस्तु शस्त्र का रूप धारण कर सके।

प्रश्न २७—महर्द्धिक देव कितने द्वीप समुद्रो के चारो ओर प्रदक्षिणा के समान घूमकर पुन शीघ्र आने मे समर्थ होते हैं ?

उत्तर—महर्द्धिक देव रुचक द्वीप तक चारो ओर प्रदक्षिणा के समान घूमकर पुन आ सकते है। उसके बाद इसके आगे तो वे किसी एक दिशा मे ही जा सकते है। प्रदक्षिणा नही दे सकते। ऐसा भगवती सूत्रके १८वे शतक के सातवे उद्देश मे भी प्रमाण है —

यथा—"देवेण भंते महिड्ढिये जाव महेसक्खे पभू लवण-समुद्दं अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छित्तए"
हंता पभू देवेण भंते महिड्ढिए एवं धायई संडं दीवं जाव हंता पभू एव जाव रुयगवर दीवं जाव हंतापभूतेण पर वीती व तेजा नो चेवण अणु परियट्टेज्जा इति वीती वतेज्जत्ति।

—हे भगवन्! महासुखी महर्द्धिक देव लवण समुद्र के चारो ओर प्रदक्षिणा देकर पुन शीघ्र आ सकता है।

हा गौतम आ सकता है। इस प्रकार महर्द्धिक देव धातकी खण्डद्वीप तथा रुचकवर द्वीप की प्रदक्षिणा करके पुन आ

सकते हैं, परन्तु उसके बाद वे किसी भी एक दिशा में ही आगे जा सकते हैं, प्रदक्षिणा नही दे सकते, क्योंकि उनमे उस प्रकार के प्रयोजन का अभाव रहता है। ऐसा सम्भव है।

प्रश्न २८:—लवण समुद्र के कितने प्रमाण वाले मत्स्य जम्बू द्वीप में जगती के छिद्र द्वारा प्रवेश करते है।

उत्तर :— नव योजन प्रमाण वाले मत्स्य ही जम्बू द्वीप में प्रवेश कर सकते हैं।

श्री समवायांग सूत्र की वृत्ति के नवमें स्थान मे "नवजोयणिया मच्छा" ऐसा कहा है। इसीलिये इस प्रमाण के आधार पर नवयोजन लम्बे शरीर को धारण करने वाले मत्स्य ही जम्बू द्वीप में प्रवेश करते है। यद्यपि लवण समुद्र मे पाँचसौ योजन लम्बे शरीर वाले मत्स्य भी होते है तथापि नदी के मुखों में जगती के छिद्रों के अनुपात से तो इतने ही (नवयोजन प्रमाण वाले ही) प्रवेश कर सकते हैं।

प्रश्न २९:—युगलियों की तीन पल्योपम से अधिक उत्कृष्ट स्थिति अनेक शास्त्रों में सुनी जाती है, परन्तु जघन्य स्थिति भी कही है या नही ?

उत्तरः—आगम मे दोनों प्रकार की स्थिति कही है। उत्कृष्ट अवगाहन वाले मनुष्य तीन गाउकी ऊँचाई वाले होते है। उनकी जघन्य स्थिति न्यून तीन पल्योपम की होती है और उत्कृष्ट स्थिति सम्पूर्ण तीन पल्योयम की होती है।

जीवाभिगम सूत्र मे भी इसी प्रकार कहा है :—

यथा–उत्तरकुरु देवकुराए मणुस्साणं भंते केवइयंकालं ठिई पन्नता गोयमा० जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं पलिओवमा संखेज्ज भाग हीणाइं उक्कोसेण तिण्णि-पलिओवमाइं ॥

—इसी प्रकार प्रज्ञापना सूत्र की टीका पचम पद मे भी ऐसा ही प्रमाण है।

यथा–पल्योपमाऽसंख्येय भागश्च त्रयाणा पल्योपमाना-मसख्येयतमो भागः।

इस प्रकार दो गाउ की उत्कृष्ट अवगाहना वाले मनुष्य की दो पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है और दो पल्योपम की असख्येय भागहीन जघन्य स्थिति तथा एक गाउकी उत्कृष्ट अवगाहना वाले मनुष्यो की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की और एक पल्यो पम का असख्येय भाग हीन जघन्य स्थिति होती है।

प्रश्न ३० –किसी भाग्यहीन पुरुष के ससर्ग मे अनेक भाग्यशालियो के भाग्योदय का घात होता है कि नही ?

उत्तर—भाग्यहीन पुरुष के ससर्ग मे प्राय कई भाग्य शालियो के भाग्य का हनन होता है। इस सम्बन्ध मे श्री बृहत्कल्पसूत्र की टीका मे कहा है कि "किसी एक आचार्य का पूरा गच्छ वस्त्र पात्र एव शय्या आदि के प्राप्त करने मे लब्धिहीन था। ऐसा होने पर उस क्षेत्र मे स्वपक्ष अथवा परपक्ष मे गच्छ का अपमान होता है इधर वे साधु शीतादि परिषह को सहन करने मे असमर्थ होते है और उधर गृहस्थ भी

तुच्छ धर्म की श्रद्धा वाले होने मे विना मांगे वस्त्रादि नही देते।

साधुओं को शुद्ध उपधि की गवेषणा करनी चाहिये ऐसा भगवान् का उपदेश है, किन्तु ऐसा वैसा साधु उसको प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वह दुर्लभ होती है। इसलिये ऐसे कार्य मे लब्धिमान् अल्पबुद्धि वाले साधु को, (उत्सार कल्प) ❀ करके वस्त्रैषणाध्ययन के उद्देश्य से कल्प करना चाहिये।

उसके बाद कल्प किये हुए साधु को क्या करना चाहिये इस सम्बन्ध में कहा है :—

हिण्डउ गीय सहाओ सलद्धि, अहते हणंति सोलद्धिं
तो एक्कओ वि हिण्डइ आयारुस्सारिय सुयत्थो।

—वे लब्धिमान साधु वस्त्र पात्रादि प्राप्त करने के लिये गीतार्थ साधुओ के साथ फिरे, इतना होने पर भी यदि प्राप्त न हो एवं वे गीतार्थ साधु उनकी लब्धि का हनन करे तो लब्धि वन्त साधु अकेला भी फिर सकता है। अकेला विचरण तो किस प्रकार करे इस सम्बन्ध मे आचारांग सूत्र के अन्तर्गत आये हुए वस्त्रैषणा एवं पात्रैषणा अध्ययन के अर्थ उत्सार कल्प करके थोड़ाअभ्यास करने के पश्चात् पुनः लब्धिवन्त साधु को विचरण करना चाहिये।

शङ्का—कोई भी मनुष्य किसी की लाभन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धिको क्या नष्ट कर सकता है?

समाधान—ऐसा कहा जाता है गीतार्थ साधु उसकी लब्धि का हननकर देते है।

❀ उत्सार कल्प अर्थात् उस साधु को पृथक कर देना

इस सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त इस प्रकार है —

"एक भाग्य-हीन भिक्षुक किसी समूह के साथ मार्ग मे हो गया। मार्ग में उस समूह को प्यास लगी। संयोग-वश वर्षा के बादल जल-वृष्टि करने लगे, परन्तु जिस समूह में वह भिक्षुक था वहा वृष्टि नही होती थी, फिर उस समूह के दो-तीन भाग हो गये, एक समूह के पृथक्-पृथक् दो-तीन समूह हो गये। उन तीनो समूहो में से जिन समूहो मे वह भिक्षुक नही था, वहाँ वृष्टि होने लगी, परन्तु उस भिक्षु पर नही होती थी।"

इस दृष्टान्त का सार यही है कि जिस प्रकार उस भिक्षुक ने समूह के ५०० मनुष्यो के पुण्य का हनन किया, उसी प्रकार भाग्यहीन भी कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न लब्धिवन्तो की लब्धि का हनन करते हैं। इस प्रकार भाग्यहीनों के संयोग से भाग्य शालियों के पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न ३१ – गृहस्थ द्वारा मात्र तीर्थंकरों के निमित्त बनाया हुआ आहार तथा जिनप्रतिमाओं के सम्मुख चढ़ाने के लिये बनाया हुआ पकवान्न आदि साधुओं को कल्पता है या नहीं?

उत्तर — मात्र तीर्थंकरों के लिये बनाये गये आहार तथा तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के सामने चढ़ाने के लिये तैयार किये गये पकवान्न आदि साधुओं को कल्पते हैं। श्री बृहत्कल्प भाष्य में कहा है —

"ससट्ठ मेत पुण्ण सन्थ निमित्त कया जड जईणं।
न हु ताओ पडिसिद्धं कि पुण पडिमट्ठमारद्धं॥

—तीर्थकरों के निमित्त देवता समवसरण की भूमिका में ही जिन संवर्तक पवन, मेघ एवं पुष्प आदि को करते हैं उनका साधुओं के लिये निषेध नही है। साधुओं का जब वहाँ खड़ा रहना कल्पता है तो फिर प्रतिमाओं के लिये तो कहना ही क्या! क्योकि प्रतिमा तो अजीव होती है। उसके निमित्त यदि हो तो उसको तो किसी भी प्रकार निषेध नही हो सकता।

शङ्का—तीर्थकरों में अथवा तीर्थकरो की प्रतिमा के लिये जो वस्तु तैयार की गई हो वह साधुओं को किस प्रकार कल्पती है ?

समाधानः—

साहंमिओ न सत्था तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं।
जं पुण पडिमाण कयं तस्स कहा का अजीवत्ता ॥

तीर्थंकर लिग अथवा प्रवचन मे सार्धमिक नहीं होते, क्यो कि लिग से सार्धमिक वे कहलाते है जो रजोहरण मुखवस्त्रिका धारी होते है। ये लिग भगवन्त के नही है। ऐसा कल्प होने से लिग से तीर्थकर साधमिक नही होते इसी प्रकार प्रवचन मे भी साधर्मिक वे कहलाते है जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ के अन्दर हो। "पवयण संघोगयरे" इस वचन से भगवान उसके प्रवर्तक होने के कारण संघ के अन्दर नही होते। किन्तु वे संघ के अधिपति है। अतएव वे प्रवचन से भी सार्धमिक नही हैं। इसीलिये तीर्थकरो के लिये किया गया आहार जब साधुओ को कल्पता है तो प्रतिमा के निमित्त किये गये आहार के नही कल्पने का कोई प्रश्न ही नही उठता! वह तो कल्पता ही है क्यों प्रतिमा अजीव है, और जीव को उद्देश्य मानकर यदि हो तो

वह आधाकर्मी होता है। क्योकि प्रतिमाओ मे जीव होता ही नही है।

प्रश्न ३२–महर्द्धिक देव बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके गमन आगमन प्रश्न उत्तर उन्मेप (आंख खोलना) निमेप (आंख बन्द करना) सकोच, विस्तार, खडा रहना, विकुर्वण अर्थात् वैक्रिय रूप करना, परिचारण (मैथुनादि) क्रिया करते है अथवा महर्द्धिक होने से बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना ही गमनागमनादि उपर्युक्त, सभी क्रियाए करते है ?

उत्तर—देव आदि समस्त ससारी जीव बाह्य पुद्गलो को ग्रहण करके ही गमन आगमन आदि क्रियाओ को करने मे समर्थ होते है। बाह्य पुद्गलो को ग्रहण किये बिना उनके लिये किसी भी कार्य का करना नितान्त असम्भव है।

श्री भगवती सूत्र के १६ वे शतक के चौथे उद्देशक मे कहा है कि –

यथा–"देवेणं भंते महिड्ढिए जाव महे सक्खे बाहिरए पोग्गले परियादित्ता पभू आगमित्तए हंता पभू देवेण भंते महिड्ढिए एव एतेणं अभिलावेणं गमित्तए २ एव भासित्तए वा वागरेत्तए वा ३ ओमिसावित्तए वा निमिसावित्तए वा ४ आउंटावत्तए वा पसारेत्तए वा ५ ठाण वासेज्ज वा निसीहिय वा चेयत्तए ६ एव विउव्वित्तए ७ एव परियारेत्तए ८ जाव हंता पभू ॥"

अवगाहन करने वाली जिह्वेन्द्रिय है क्यों कि इसका विस्तार अंगुल पृथक्त्व (दो से नौ अंगुली) है। इसने स्पर्शनेन्द्रिय संख्येय गुण प्रदेश में अवगाहन करने वाली है, असंख्येय गुण की अवगाहन वाली नही, क्योंकि इसका उत्कर्ष लाख योजन का प्रमाण है।"

इस प्रकार इस सम्बन्ध में प्रज्ञापना सूत्र के पन्द्रहवें इन्द्रिय पद के प्रथम उद्देश मे कहा है।

अंगुल शब्द से यहाँ आत्मांगुल अर्थ लेना चाहिए तथा स्पर्शेन्द्रिय का प्रथुत्व उत्सेध अंगुल मे एवं शेष इन्द्रियों का आत्मांगुल से जानना चाहिए।

प्रश्न ३५:–मनुष्य लोक में कल्पवृक्ष सचित्त है अथवा अचित्त ! वनस्पति विशेष है या पृथ्वीकायमय ? विस्रसा परिणाम से परिणत है या देवाधिष्ठित ?

उत्तर :—मनुष्य लोक मे कल्पवृक्ष सचित्त, वनस्पति विशेष एवं युगलिकों के पुण्य समूह के उदय से स्वाभाविक ही तथा विध परिणाम से परिणत होते है।

यह अधिकार आचाराङ्ग वृत्ति के द्वितीय श्रुत स्कन्ध की पीठिका मे तथा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र की वृत्ति मे वृक्षाधिकार के प्रकरण में भी आता है।

आचाराङ्ग वृत्ति पाठ :—"तत्र प्रधानाग्रं त्रिधा सचित्तमपि द्विपदादि भेदात् त्रिधैव, तत्र द्विपदेषु तीर्थङ्करः,

चतुष्पदेषु सिंहः, अपदेषु कल्पवृक्षः, अचित्त वैडूर्यादि मिश्रं तीर्थङ्कर एवालङ्कृत इति।"

—श्रेष्ठ वस्तु तीन प्रकार की होती है, १ सचित्त, २ अचित्त और ३ मिश्र। इनमे द्विपदादि भेद से सचित्त तीन प्रकार के होते है —१ द्विपद २ चतुष्पद एव ३ अपद। द्विपदो मे तीर्थङ्कर चतुष्पदो मे सिंह एव अपदो मे कल्पवृक्ष उत्तम है। अचित मे वैडूर्यमणि आदि तथा मिश्र मे अलङ्कृत तीर्थङ्कर है।

जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति पाठ :—"स्वभावतः फल-पुष्पशालिनः कल्पवृक्षाः प्रोक्ताः सन्ति तथाच तत्पाठ-लेशः मत्त गया वि दुमगणा अणेगबहु विविह वीससा। परिणयाए मज्जविहीए उववेया फलेहिं पुन्ना विसट्टंतीत्यादि ॥"

—स्वभावत ही कल्पवृक्ष फल पुष्पो से सुशोभित कहे गये हैं। इस सम्बन्ध मे यह पाठ है कि "मतगजादि कल्पवृक्षो के समूह अनेक प्रकार के विश्रसा परिणाम वाले होते हैं। ऐसे कल्पवृक्षो के फल परिपाक अवस्था मे प्राप्त होते हुए मद्य विधि के समान पूर्णतया फूट फूटकर मद्य विधि को छोडते है।"

इसी प्रकार योग शास्त्र के चतुर्थ प्रकाश मे भी कहा है कि—"धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्षादि इच्छित फल को देते हैं। आदि शब्द से चिन्तामणि आदि ग्रहण करना चाहिये यहाँ स्थिति वनस्पति एव पाषाण रूप मे भी होती है। अत जम्बू धातकी शाल्मली आदि तथा कुम्भवृक्ष रत्नादि पृथ्वीकाय रूप एव वनस्प-

वृक्ष वनस्पति मय और विस्रसा परिणाम वाले जानना चाहिये देवाधिष्ठित नही ।

प्रश्न ३६:–कुक्कुट (मुर्गा) और मयूर के मस्तक पर रही हुई शिखा सचित्त है, अचित्त है, अथवा मिश्र है ?

उत्तर :—कुक्कुट की शिखा सचित्त एवं मयूर की शिखा मिश्र है। इस सम्बन्ध मे आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पीठिका मे कहा है कि –

"तत्र चूडाया निक्षेपो नामादि षड्विधः, नाम-स्थापने क्षुण्णे, द्रव्य चूडा व्यतिरिक्ता सचित्ता कुक्कुटस्य, अचित्ता मुकुटस्य चूडामणि मिश्रा मयूरस्य, क्षेत्र चूडा लोक निष्कुटरूपा कालचूडाऽधिकमास-स्वभावा ।"

–शिखा के नामादि निक्षेप छः प्रकार के है। इनमे नाम एवं स्थापना निक्षेप सरल है । अतएव द्रव्य चूडाव्यतिरिक्त में कुक्कुट की शिखा सचित्त एवं मयूर की शिखा मिश्र होती है। इसी प्रकार क्षेत्र शिखा लोक निष्कुटरूप एवं कालशिखा अधिक मास रूप होती है।

प्रश्न ३७:–असुर कुमारादि के शरीर का वर्ण एवं चिह्न आदि का स्वरूप तो संग्रहणी आदिक मे स्पष्ट रूप में कहा गया है, किन्तु ज्योतिषी देवों के शरीर का वर्ण किस प्रकार का है एवं इनके मुकुटों मे कौन कौन से चिह्न है ?

उत्तर —चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा इन पांच प्रकार के ज्योतिषियो मे तारागण पांच वर्ण के होते है शेष चन्द्रादि चारो तपे हुए सुवर्ण जैसे वर्ण वाले होते हैं ये सब विशिष्ट वस्त्र एव अलकारो से भूषित तथा मुकुटालङ्कृत मस्तक वाले होते हैं। केवल इन्द्रो के मुकुटाग्र भाग मे प्रभामण्डल स्थानीय चन्द्र मण्डलाकार चिह्न होता है। इस प्रकार सूर्य, ग्रह, नक्षत्र एव ताराओ के मुकुटो म भी अपने अपने मडलो के आकार वाले चिह्न होते है।

इसके सम्बन्ध मे तत्वार्थ भाष्य म कहा है —

"मुकुटेषु शिरोमुकुटोपगूहिभिः प्रभामण्डलकल्पै रुज्ज्वलैः यथा स्वचिह्नैः विराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति।"

—मुकुटो मे, मुकुटो के अग्रभाग के समीप होने वाले प्रभामण्डल के समान यथोचित अपने चिह्नो से विराजमान कान्तिवाले ज्योतिषी देव होते हैं।

संग्रहणी वृत्ति मे "शिरोमुकुटोपगूहिभि" इस पद का "मुकुटाग्र वर्तिभि" ऐसा अर्थ किया है।

इसी प्रकार जीवाभिगमवृत्ति म भी कहा है —

चन्द्रस्य मुकुटे चन्द्रमण्डलं लाञ्छन स्वनामाङ्क प्रकटित एव सूर्यादिरपि।"

—चन्द्र के मुकुट में अपने नामको प्रकट करने वाला चन्द्र मण्डल का चिह्न होता हैं। इसी प्रकार सूर्यादिके भी।

यही बात प्रज्ञापना मे भी कही है।

प्रश्न ३८:-"जोयणिग सट्ठि भागा" इत्यादि संग्रहणी की गाथा मे ताराओ के विमानों को लम्बाई एवं चौड़ाई आधे कोस की तथा ऊंचाई एक कोस के चौथे भाग की कही गई है तो क्या इस प्रमाण के कम ताराओं का विमान नही होता है?

उत्तर :—यहाँ जिन ताराओं के विमानों को लम्बाई चौड़ाई एवं ऊँचाई का प्रमाण कहा गया है वह तो उत्कृष्ट स्थितिवाले ताराओ का प्रमाण है। जघन्य स्थिति वाले ताराओं के विमानों का प्रमाण तो पांचसौ धनुष की लम्बाई चौड़ाई और ढ़ाई सौ धनुष की ऊँचाई का कहा गया है यही बात श्री तत्त्वार्थ भाष्य मे भी कही है कि—

"सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धकोशः ज़घन्यायाः पंच-धनुः शतानि विष्कम्भार्धबाहल्याश्च भवन्ति।"

—सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले ताराओं के विमान की लम्बाई चौड़ाई आधे कोस की और जघन्य स्थिति वाले ताराओं के विमान की लम्बाई चौड़ाई पाँच सौ धनुष की तथा ऊँचाई तो दोनों की चौड़ाई से आधो जाननी चाहिये।

प्रश्न ३९:-मनुष्य क्षेत्र के बाहर रहने वाले चन्द्रादि ज्योतिषी देवो के विमानों का प्रमाण ढाई द्वीप मे रहने वाले

चन्द्रादिदेवों कि अपेक्षा आवा प्रमाण कहा है, परन्तु उनके आयुष्य का प्रमाण कितना है?

उत्तर —दोनों का आयुष्य समान ही होता है लेशमात्र भी अन्तर नहीं होता। यह सग्रहणी टीका मे पाचवी गाथा की व्याख्या म इस प्रकार कहा है —

"अशेषासख्येय द्वीपसमुद्रवर्ति चन्द्रविमान-वासिदेवानाम् वर्षाणां लक्षेणाधिक पल्योपमम् उत्कृष्टमायुः ।"

—समग्र असख्यात द्वीप समुद्र म रहने वाले चन्द्र विमान देवताओ का उत्कृष्ट आयुष्य एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है।

प्रश्न ४० –जैसे जम्बूद्वीप और लवण समुद्र मे रहने वाले चन्द्र सूर्य आदि जम्बूद्वीपवर्ती मेरु पर्वत को प्रदक्षिणा करते हुए फिरते हैं, वैसे ही धातकी खण्डादि द्वीप-समुद्रवर्ती चन्द्र सूर्य आदि भी क्या उसी जम्बू द्वीप वर्ती मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए घूमते हैं अथवा अपने अपने द्वीप मे रहे हुए मेरु को?

उत्तर —मनुष्य क्षेत्र में रहने वाले सभी चन्द्र-सूर्यादि जम्बूद्वीप-वर्ती मेरु पर्वत को ही प्रदक्षिणा देते हुए घूमते है, अपने अपने द्वीप के मेरु को नहीं। ऐसा सग्रहणी टीका मे भी कहा है।

प्रश्न ४१ –मनुष्य क्षेत्र के बाहर रहने वाले चन्द्र सूर्य किस व्यवस्था म अवस्थित है? सूची श्रेणी मे या परिधि रूप मे?

उत्तर :—श्रीचन्द्रप्रज्ञप्ति जीवाभिगम एवं संग्रहणी सूत्र के अनुसार तो सूची श्रेणी से ही इनकी अवस्थिति सम्भव है, परिधि श्रेणी से नहीं। श्री जीवाभिगम सूत्र की टीका सूर्यसूर्यान्तर व्याख्यान में इस प्रकार पाठ है।

"एतच्चैवमन्तर परिमाणं सूची श्रेण्या प्रतिमन्तव्यं न वलयाकार श्रेण्या एवं संग्रहणी वृत्त्यादावपि बोध्यम् ।"

एक सूर्य से दूसरे सूर्य का अन्तर सूची श्रेणी से ही प्रतिपादन करना चाहिये, वलयाकार श्रेणी से नहीं।

शंका :—यदि ऐसा है तो मनुष्य क्षेत्र से बाहर आठ लाख योजन प्रमाण वाले पुष्करार्ध द्वीप में चारों दिशाओं की चारों पंक्तियों में स्थित बहोत्तर चन्द्र एवं बहोत्तर सूर्य का चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र में जो अन्तर कहा है, वह कैसे घटित होता है ?

चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र का पाठ इस प्रकार है :—

चंदाओ सूरस्स य सूरा चंदस्स अंतरं होइ ।
पन्नास सहस्साइं जोअणाणं अणूणाइं ॥

सूरस्स य सूरस्स य ससिणो ससिणो य अंतरं दिट्ठं ।
बहिया माणुस नगस्स जोयणाणं सयसहस्सं ॥२॥
सूरं तरिया चंदा चंदं तरिया य दिणयरा दित्ता...

—चन्द्र से सूर्य का एव सूर्य से चन्द्र का अन्तर पचास हजार योजन का होता है। एक सूर्य दूसरे सूर्य का और एक चन्द्र से दूसरे चन्द्र का अन्तर मानुष्योत्तर पर्वत के बाहर एक लाख योजन का होता है। इस प्रकार सूर्य से अन्तरित चन्द्र और चन्द्र से अन्तरित सूय रहते हैं। यह कैसे घटित होता है ? इसमे कोई युक्ति नही चरितार्थ होती। इसी प्रकार उनकी अवस्थिति अर्थात् रहने की मर्यादा भी जानना आवश्यक है, जिससे उपर्युक्त रूप मे कहा गया अन्तर स्पष्ट घटित हो सके।

समाधान —मनुष्य क्षेत्र के बाहर चन्द्र और सूर्य किस प्रकार रहते हैं ? यह बात चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि मे नही कही गई है। इनमे तो केवल अन्तर मात्र बताया गया है। अत इस पर मे यह निश्चय नही किया जा सकता। सग्रहणी वृत्ति आदि मे भी इसी प्रकार कहा गया है एव लोक प्रकाशकार ने भी यही कहा है — जैसे

अनन्तर नरक्षेत्रात् सूर्य चन्द्राः कथं स्थिताः।
तदागमेषु गदित साम्प्रत नोपलभ्यते ॥२२॥

केवल चन्द्र सूर्याणा यत् प्रास्कथितमन्तर।
तदेव साम्प्रत चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिषु दृश्यते ॥२३॥

एषा सम्भाव्यते चन्द्रप्रज्ञप्त्याद्यनुसारतः।
सूची श्रेण्या स्थितिर्नैव श्रेण्या परिरयाख्यया ॥२४॥

—मनुष्य क्षेत्र के बाहर चन्द्र सूर्य किस प्रकार रहते हैं, यह आगमो मे कहा हुआ उपलब्ध नहीं होता। केवल चन्द्र

और सूर्य का जो अन्तर पहिले कहा गया है, वही इस समय चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि में दिखाई देना है। चन्द्र प्रज्ञप्ति आदि सूत्रों के अनुसार इनकी स्थिति सूची श्रेणी से ही सम्भव है वलयाकार से नहीं। यह प्रमाण २४ वें सर्ग में है। इस सम्बन्ध में कुछ आचार्य इनकी स्थिति परिरय श्रेणी की मानते है। उनके मत को प्रतिपादित करने वाली "चउयालसयं पढमिल्लुयाए" ये दो गाथाएं है। इस विषय का बहुत ही विस्तार है। उस विस्तार के ज्ञान की इच्छा रखने वाले सज्जनों को संग्रहणो वृत्ति एवं लोक प्रकाश का अवलोकन करना चाहिये।

श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने भी योग प्रकाश के चौथे प्रकाश की टीका में "परिरय श्रेणी" ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है। वह इस प्रकार है:—

यथा:—"मानुषोत्तराद् परतः पञ्चाशतसहस्रैः परस्परमन्तरिताः चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राः मनुष्य क्षेत्रीय चन्द्रसूर्य प्रमाणात् यथोत्तरं क्षेत्रपरिधिवृद्धया संख्येया वर्धमानाः शुभलेश्याग्रह नक्षत्र तारा परिवारा घण्टाकाराः असंख्येया आस्वयंभूरमणात् लक्षयोजनान्तरिताभिः पंक्तिभिः तिष्ठन्तीति।"

—मानुषोत्तर पर्वत से पचास हजार योजन से परस्पर अन्तरित चन्द्रान्तरित सूर्य एवं सूर्यान्तरित चन्द्र मनुष्य क्षेत्रीय चन्द्र सूर्य प्रमाण से उत्तरोत्तर क्षेत्र परिधि की वृद्धि से संख्या बद्ध वृद्धि को प्राप्त हुए शुभ लेश्या ग्रह नक्षत्र एव ताराओं के

परिवार वाले घटाकार असख्य चन्द्र सूर्य स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त लाख योजन की अन्तर वाली पक्तियो से रहते है।

इस प्रकार इस सम्बन्ध मे परिशिष्ट पर्व के राजगृहवर्णन मे भी कहा है कि—

तत्र राजत सौवर्णैः प्रकारः कपिशीर्षकैः।
भाति चन्द्रांशुमद् निम्बैर्मर्त्योत्तर इवाचलः॥

ऐसे इस प्रकरण मे कई मत मतान्तर है, उनमे तत्त्व क्या है, यह तो केवली ही जाने।

प्रश्न ४२—जब भरत एव ऐरावत क्षेत्र मे दिन होता है, तब महाविदेह मे रात होती है और जब भरतादि मे रात होती है, तव विदेह मे दिन होता है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु श्री भगवती सूत्र मे ऐसा कहा है कि जिस दिन भरतादि मे वर्षा ऋतु प्रारम्भ होती है उसी दिन विदेह मे भी एक समय बाद वर्षा ऋतु होती है। इस से जब भरतादि क्षेत्र मे सर्वोत्कृष्ट १८ मुहूर्त का दिन होता है, तब महाविदेह मे अठारह मुहूर्त रात होती है तो ऋतुभेद से आगम के साथ विरोध क्यो नही होता है?

उत्तर —ऐसा कहना अनुचित है क्योकि कर्क सक्रान्ति के प्रथम दिन पूर्व महाविदेह क्षेत्र मे तीन मुहूर्त दिन शेष रहने पर भरत क्षेत्र के मनुष्य उदय होते हुए सूर्य को देखते हैं और भरत क्षेत्र मे भी तीन मुहूर्त दिन शेष रहने पर पश्चिम महाविदेह के मनुष्य भी

उदय होते हुए सूर्य को देखते है। ऐसे ही पश्चिम महाविदेह में तीन मुहूर्त्त दिन शेष रहने पर ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य उदय होते हुए सूर्य को देखते हैं। ऐरावत क्षेत्र में भी तीन मुहूर्त्त दिन शेष रहने पर पूर्व विदेह के मनुष्य उदय होते हुए सूर्य को देखते हैं। इसलिये समस्त क्षेत्रों में समान प्रमाण वाले ही दिन होते है। इस प्रकार जम्बू द्वीप में शीतकाल में जब सर्वोत्कृष्ट अठारह मुहूर्त की रात होती है, तब भरतादि अन्य क्षेत्रों में रात्रि के तीन मुहूर्त्त व्यतीत हो जाने पर महाविदेहादि क्षेत्रों में सूर्योदय होता है तथा वैसे ही रात्रि के तीन मुहूर्त्त शेष रहने पर सूर्यास्त होता है। इस प्रकार सर्वत्र रात्रि समान प्रमाण वाली होती है। इस दृष्टि से ग्रीष्म ऋतु में सर्वोत्कृष्ट दिन में सूर्य के सर्वाभ्यन्तर मण्डल में होने से आदि में तीन एवं अन्त में तीन इस प्रकार कुल छः मुहूर्त्त में समस्त क्षेत्रों में दिन होता है और शीतकालीन सर्वोत्कृष्ट रात्रि में सूर्य सर्वबाह्यमण्डल में होने से आद्यन्त-छ मुहूर्त्त में सर्वत्र रात्रि होती है। इसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, जैसा कि आगम में कहा है :—

पुव्व विदेहे सेसे मुहुत्ततिगे वाससे निरक्खंति ।
भरहनरा उदयंतं सूरं कक्कस्स पढमदिने ॥१॥
भरहे वि मुहुत्त तिगे सेसे पच्छिम विदेह मणुआ वि ।
एरवए विअ एवं तेण दिणं सव्वओ तुल्लं ॥२॥

जवुद्दीवे नयरे रयणीऽ मुहुत्त तिगे अऽक्कते।
उदये तहेर सूरो मुहुत्ततिगे सेसे अत्थमओ ॥३॥

—कक संक्रान्ति के प्रथम दिन पूर्व विदेह क्षेत्र में तीन मुहूर्त दिन शेप रहे तव भरत क्षेत्र के मनुष्य सूर्य को उदय होता हुआ देखते हैं। भरत क्षेत्र में भी तीन मुहूर्त दिन शेप रहने पर पश्चिम महाविदेह के मनुष्य उदय होता हुआ सूर्य देखते हैं। इस प्रकार दिन सर्वत्र समान होता है। जम्बू द्वीप के भरत क्षेत्र में शीत ऋतु में तीन मुहूर्त रात्रि व्यतीत होने पर पश्चिम महाविदेह में सूर्योदय एव तीन मुहूर्त रात्रि शेप रहने पर सूर्यास्त होता है।

प्रश्न ४३ –जब सौधर्मेन्द्र जिन जन्मादि महोत्सवो में यहा आते है, तब अपने सेनापति को आज्ञा देकर सुघोपा घण्टा वजवाते हुए अपने देवलोकवासी देवो को बुलाते हैं। यह प्रसिद्ध है, परन्तु अन्य ६३ इन्द्र किस देवता को देकर किस नाम के वादित्र को वजवाते हुए अपने स्थानवासी देवो को बुलाते है ?

उत्तर —सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्म, महाशुक्र एव प्राणतेन्द्र ये अपने-अपने सेनापति हरिणैगमेपी देव को आज्ञा देकर अपनी-अपनी सुघोपा घण्टा को वजवाते हैं। तथा ईशान, माहेन्द्र, लान्तक, सहस्रार और अच्युतेन्द्र ये इन्द्र अपने-अपने लघु पराक्रम नामक सेनापति देव को आज्ञा देकर अपनी-अपनी महाघोपा घटा वजवाते है। ऐसे ही चमर और वलि असुरेन्द्र के द्रुम तथा महाद्रुम सेनापति है और इनकी ओघ-

सुणि ऊण संख सद्दं मिलंति भवणाय वंतरा पडह ।
जोइसिय सिंहनादं घंटा वेमाणिया देवा ॥ ?

यह गाथा दिगम्बर मतोक्त है ।

प्रश्न ४४:—देवों को सम्मिलित कर चौंसठ इन्द्र जिन विमानों में बैठकर यहाँ आते है उन विमानों के बनाने वाले देवों के क्या नाम है और विमान का प्रमाण कितना है. तथा कितने प्रमाण वाला इन्द्र ध्वज आगे चलता है ?

उत्तर :—दश वैमानिक इन्द्रों के विमान कर्ता देवों के नाम इस प्रकार है:-१. पालक, २. पुष्पक, ३. सौमनस, ४. श्रीवत्स, ५. नन्दावर्त्त, ६. कामगम, ७. प्रीतिगम, ८. मनोरम, ९. विमल, १०. सर्वतोभद्र । इसी प्रकार भवनपति, व्यन्तर तथा ज्योतिषी सर्व इन्द्रों के विमान कर्ता अनियत नाम वाले स्वामी से आदेश प्राप्त करने वाले आभियोगिक देव होते है । दश वैमानिक इन्द्रों के विमानों की लम्बाई, चौड़ाई एक लाख योजन की तथा ऊँचाई अपने विमान जितनी ही होती है । इनके महेन्द्रध्वज की ऊँचाई एक हजार योजन है और असुरेन्द्रों के विमान पचास हजार योजन के होते हैं । तथा महेन्द्र ध्वज की ऊँचाई पांच सौ योजन की हैं । शेष धरणेन्द्र आदि अठारह इन्द्रों के विमान पचीस हजार योजन के विस्तार वाले हैं और महेन्द्र ध्वज की ऊँचाई ढाई सौ योजन की है । व्यन्तर ज्योतिष्केन्द्रों के विमान एक हजार योजन के तथा महेन्द्र ध्वज सवा सौ

योजन ऊँचा होता है। यह सारा अधिकार जम्बू-द्वीप-प्रज्ञप्ति-सूत्र की टीका मे है।

प्रश्न ४५–इन्द्रो के जो पालकादि विमान कर्ता देव हैं वे अपने आत्मप्रदेशो से अधिष्ठित विमानो की रचना करते है या प्रदेश रहित अचित्त पुद्गलो से रचना करते है ?

उत्तर —पालकादि देव ही स्वय विमान रूप हो जाते हैं अत ये विमान अचित्त नही हो सकते। इस सम्बन्ध मे स्थानाङ्ग वृत्ति के दशमस्थानक मे इस प्रकार कहा है —

यथा–"पालक इत्यादीनि शक्रादीना क्रमेणाऽवगन्तव्यानि इत्यादि, आभियोगिकाश्चैते देवा विमानी भवन्तीति अतएव विमान नामान्यपि पालकादीन्येव बोध्यानि ॥"

"पालक आदि देव अनुक्रम से इन्द्रादि के विमान जानना चाहिये। ये आभियोगिक देव ही विमान रूप होते हैं, अत विमानो के नाम भी पालकादि जानना।"

प्रश्न ४६–जैसे लोकपालादि के विमान भिन्न-भिन्न होते हैं वैसे ही इन्द्रो के सामानिक देवो के भी महाऋद्धि वाले होने मे भिन्न-भिन्न विमान होते होंगे क्या ?

उत्तर —इन्द्रो के सामानिक देवो के विमान भिन्न नही होते क्योंकि ऊपर के सहस्रारादि देवलोक मे सामानिक

अभव्यों के लिये यह बात घटित नहीं होती। इस युक्ति का समर्थन वृद्ध जन भी करते हैं।

प्रश्न ४८–प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर के छद्मस्थ काल में सम्पूर्ण प्रमाद काल कितना था ?

उत्तर :—श्री ऋषभदेव भगवान् का छद्मस्थ काल एक हजार वर्ष का है। इस छद्मस्थकाल में उग्र तपस्या करते हुए सम्पूर्ण प्रमाद काल एक अहोरात्रि का है। इसी प्रकार श्री महावीर प्रभु के साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त तपस्या करते रहने पर उनका प्रमादकाल एक अन्तर्मुहुर्त का ही है। इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र कमल संयमी टीका के बत्तीसवें अध्ययन में तथा अन्य शास्त्रों में भी कहा है कि—

वीरुसहाण पमाओ अंतमुहुत्तं तहेव होरत्तं।
उवसग्गा पासस्स य वीरस्स य न उण सेसाणं ॥

ऋषभदेव स्वामी का प्रमाद काल एक अहोरात्रि का और वीर प्रभु का प्रमादकाल अन्तर्मुहुर्त का है। पार्श्वनाथ एवं वीर प्रभु को उपसर्ग हुए हैं। दूसरे किसी भी तीर्थंकर को उपसर्ग नही हुए।

प्रश्न ४९:–शाश्वत जिन प्रतिमाएं कौन से आसन से बैठी हुई है ?

उत्तर :—शाश्वत जिन प्रतिमाएँ पर्यङ्क आसन से बैठी हुई हैं। योग शास्त्र वृत्ति के चतुर्थ प्रकाश में कहा है कि—

स्याज्जवयोरधोभागे, पादोपरिकृतेसति ।
पाणिद्वय नाभ्यासन्न मुत्तानं दक्षिणोत्तरम् ॥

—दक्षिण एव वाम जघाओ के नीचे का भाग पाँव के ऊपर रखकर दक्षिण एव वाम हाथ नाभि के समीप खुले रखने पर पर्यङ्कासन होता है।

यही पर्यङ्कासन शाश्वत प्रतिमाओ का एव निर्वाण काल मे भगवान महावीर का था।

प्रश्न ५० —चौवीसो तीर्थ कर कौनसा अनशन स्वीकार करके कौन से आसन से स्थित हो मोक्ष को प्राप्त हुए है ?

उत्तर —सभी तीर्थ कर पादोपगमन अनशन मे सिद्ध हुए है एव भविष्य मे भी होगे। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति मे तथा पचाशक विवरण मे कहा है कि—

सव्वे सव्वद्धाए, सव्वन्नू सव्वकम्मभूमी सु।
सव्वगरु सव्वमहियां, सव्वमेरु मि अभिसित्ता ॥१॥
सव्वाहि वि लद्धीहि, सव्वेवि परीसहे पराइत्ता।
सव्वे वि य तित्थयरा पाओवगयाउ सिद्धिगया ॥२॥
अवसेसा अणगारा तीयपडुप्पन्नणा गया सव्वे।
कोई पाओवगया पच्चक्खाणें गिरिं केई ॥३॥
सव्वाओ अज्जाओ सव्वे विय पढम सघयण वज्जा।
सव्वे य देसविरिया पच्चक्खाणेण उ मरंती ॥४॥

पर जब अजितनाथ भगवान् उत्पन्न हुये तब उनके शासनकाल मे सगर चक्रवर्ती के पुत्र जह्नुकुमार ने दण्डरत्न से अष्टापद पर्वत के आठ सोपान बनवाये। ऐसा उत्तराध्ययन वृत्ति मे कहा है, यथाः—

इति श्रुत्वाऽथ दण्डेन, पातयित्वास्य भूभृतः
नितम्ब दन्त शृङ्गाग्रम् अष्टसोपानताकृताः ॥१॥

— इस प्रकार सुनकर दण्डरत्न से इस पर्वत के आस-पास के तीक्ष्ण शिखरों का गिराकर आठ सोपान बनाये।

यह प्रकरण द्वितीय चक्राधिकार मे है।

श्री लोक प्रकाश मे तो भरताधिकार मे इस प्रकार कहा हैः—

संतक्ष्य दण्डरत्नेन परितोऽष्टापदं गिरिम्।
अष्टौ योजनमानास्तन्मेखलाः स व्यरीरचत् ॥२॥

— अष्टापद पर्वत दण्डरत्न से चारों ओर से छीलकर उसने आठ-योजनां के प्रमाण वाली गोल मेखलाएं बनाई।

इस आधार पर भरत ने ही वे सोपान बनाये ऐसा सिद्ध होता है।

शत्रुञ्जय माहात्म्य के आठवें सर्ग मेः—

अष्टाभिः पदिकाभिस्ते, तमारुह्यात हर्षितः।
प्रासादान् जगदीशस्य, त्रिः प्रदक्षिणयन् क्षणात्—

— वे आठ सोपानो से हर्षपूर्वक ऊपर चढ़कर जिनेश्वर के प्रासादों की तीन प्रदक्षिणा देते थे। इतना ही कहा है।

सगर पुत्र के अधिकार मे छठे सर्ग मे पुन भरताधिकार मे कहा है, कि —

योजनान्ते योजनान्ते दण्डरत्नेन चक्रिराट् ।
चक्राष्टौ पदान्यस्मात् ख्यातः सोऽष्टापदो गिरिः ॥४॥

— भरतचक्रवर्ती ने दण्डरत्न मे एक एक योजन के प्रमाण वाले आठ सोपान बनाये इसमे अष्टापद पर्वत प्रसिद्ध है।

प्रश्न ५३,–अष्टापद पर्वत के ऊपर सिंह निषद्या नाम के मन्दिर में चारो दिशाओ मे अपने अपने वर्ण – प्रमाण मे युक्त चौबीसो तीर्थंकरो की प्रतिमाये भरतचक्रवर्ती ने स्थापित की है। वहाँ पूर्व दिशामे ऋषभ देव एव अजित नाथ दोहैं, दक्षिण दिशा मे सम्भवनाथ आदि चार, पश्चिम दिशा मे सुपार्श्वनाथ आदि आठ, उत्तर दिशा मे धर्मनाथ आदि दश इस प्रकार की सख्यासे स्थापन करने का क्या हेतु है ?

उत्तर — ऋषभदेव एव अजितनाथ का देहमान विशाल होने मे एक दिशा मे दो ही स्थापित हो सके। तत्पश्चात् क्रम मे देहमान छोटा छोटा होने मे चार आदि सख्या मे स्थापित करना युक्तियुक्त है। अतएव देहमान का छोटा बडा होना ही इसम कारण ज्ञात होता है। विशेष तो बहुश्रुत जो कहते हैं वही प्रमाण है।

प्रश्न ५४—श्री भगवती सूत्र के आठवे शतक के नवम उद्देश मे कृत्रिम वस्तु की स्थिति सख्यात काल तक ही कही है, अत अष्टापद पर्वत पर भरत चक्रवर्ती द्वारा बनवाई हुई प्रतिमाओ का सद्भाव (अस्तित्व) आज कैसे विद्यमान है ? क्योकि मध्य में असख्यात कोटि कोटि वर्ष वाला

चौथा आरा आता है। इसी प्रकार शत्रुञ्जय पर्वत पर भरतचक्रवर्ती द्वारा वनवाये गये मन्दिर आज तक क्यों नही रहे? जब कि वहां असंख्यात उद्धार हुए सुने जाते है ?

उत्तर :—अष्टापद का स्थान देवसान्निध्य होने से अपाय (उपद्रव) रहित है। " जाव इमा ओसप्पिणित्ति " वसुदेव हिण्डी मे इस प्रकार कहा है। अतः वहां के देवमन्दिर (चैत्यालय) इतने समय तक विद्यमान रह सकते है; यह उचित ही है। शत्रुञ्जय का स्थान तो अपाय (उपद्रव) युक्त एवं भवितव्यता के वशसे एवं तथाविध देवसान्निध्य रहित है; अतः भरतचक्रवर्ती द्वारा बनवाये गये मन्दिर एवं प्रतिमायें इतने समय तक नहीं रह सकती यह सम्भव है। शेष तत्व तो तत्वज्ञ केवली ही जान सकते हैं। वसुदेव हिण्डी मे तो इस प्रकार पाठ है;—

यथा–"ततो ते जण्हुय भइया कुमारा पुरिसे आणवेंति गवेसह अट्ठावयतुल्लं। पव्वयं ति तओ तेहिं तत्तुल्लो पव्वओ ण दिट्ठो त्ति णिवेइयं ततो अमच्चं ते लवंति के वइयं पुणकालं आययणं अविणस्सिजिस्सइ ततो तेण अमच्चे ण भणियं जाव इमाओ सप्पिणित्ति इति मे केवलि जिणाणं अंतिए सुयंति॥"

— इसके पश्चात् वे जह्नु कुमार आदि प्रमुख कुमार पुरुषों को बुलाकर कहते है कि अष्टापद पर्वत के समान दूसरा पर्वत ढूढ़ो। तब उन पुरुषों ने गवेषणा कर कहा कि अष्टापद पर्वत के समान दूसरा कोई पर्वत नहीं है। तदनन्तर उन्होने मन्त्रियों से

कहा कि यह पर्वत कितने समय रहेगा। मन्त्रियों ने कहा कि यह अवसर्पिणी काल तक रहेगा। ऐसा हमने केवली जिन के पास से सुना है।)

इस सम्बन्ध मे जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे सुषम सुषम आरकादि वर्णन मे वापी दीर्घिकादि कृत्रिम पदार्थों का सद्भाव बतलाते हुए कहा है, वह देखना चाहिये। इसी प्रकार हीर प्रश्न मे भी इस प्रश्न का इसी प्रकार समाधान किया गया है।

प्रश्न ७५ —क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थानक के अन्तिम समय मे सर्व ज्ञानावरणादि कर्म का क्षय होता है, ऐसे समय मे केवल ज्ञान की उत्पत्ति मानी गई है तथा चौदहवे गुण स्थानक के अन्तिम समय मे शेष सभी कर्मों के क्षय होने से उसी समय सिद्धत्व प्राप्त होता है, अनन्तर समय मे नही। शास्त्र मे तो केवल ज्ञान एव सिद्धत्व अनन्तर समय मे प्राप्त होते हैं, ऐसा सुना जाता है। ऐसी स्थिति में कौन सा मत मानना उचित है?

उत्तर —जिन प्रवचन (जिन शासन) में निश्चय और व्यवहार दो नय हैं। निश्चय नय के मत मे बारहवे व चौदहवे गुणस्थानक के अन्तिम समय में ही केवलोत्पत्ति एव सिद्धत्व प्राप्त होते हैं और व्यवहार नय के अनुसार तो अनन्तर समय मे। अत दोनो ही मानना चाहिये। ऐसा ही भाष्य मे भी कहा है यथा —

आवरणक्खय समए निच्छइयनयस्स केवलुप्पत्ती।
तत्तो णंतर समए ववहारो केवल भणइ त्ति ॥१॥

(इस गाथा का तात्पर्य ऊपर की पंक्तियों में दे दिया गया है।)

प्रश्न ५६—केवली समुद्घात कौन करते हैं और कौन नहीं करते ?

उत्तर :—जिन केवलियो के आयु – नाम – गोत्र एवं वेदनीय कर्म ये चारों समान होते हैं तथा क्षय को प्राप्त होते है वे केवली केवलीसमुद्धात नहीं करते और जिनका आयुष्य थोडा हो तथा दूसरे कर्मों की स्थिति अधिक हो तो वे चारों कर्मों की स्थिति समान करने के लिये समुद्धात करते है। ऐसा पन्नवणा सूत्र के समुद्घात पद मे कहा है।

इस सम्बन्ध में गुण स्थानक समारोह में इतना विशेष है :—

यथाः—यः षण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्गमम् ।
करोत्यसौ समुद्घातं शेषाःकुर्वन्तिवा न वा ॥

उक्तं च—छम्मासाऊ सेसे उप्पन्नं जेसि केवलं णाणं ।
ते नियमा समुग्घाईय सेसा समुग्घाय भजयत्ति ॥

जो मनुष्य छ मास से अधिक आयुष्य वाला हो एवं केवल ज्ञान प्राप्त करले तो वह समुद्धात करता है दूसरे करें अथवा न करें। इस प्रकार गुण स्थानक समारोह में कहा है। दूसरे स्थान पर ऐसा कहा गया है कि छ. मास का आयुष्य शेष रहा हो और जिनको केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाय वे अवश्य समुद्धात करते है दूसरो के लिये यह नियम नही है।

इस प्रकार जिनकी छ मास ऊपर की वृद्धि मे आयुष्य शेष रही हो एव वे केवल ज्ञान प्राप्त करले तो समुद्घात करते हैं अथवा न भी करते है, यह " शेषा " — शब्द का अर्थ है।

प्रश्न ५७ —भगवान् केवली समुद्घात करके मोक्ष को पधारते है या अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अथवा छ मास के पश्चात् ?

उत्तर —भगवान् केवली समुद्घात करके अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही मोक्ष पधारते हैं, ऐसा प्रज्ञापना सूत्र मे कहा है, कि भगवान् केवली समुद्घात से निवृत्त होकर पश्चात् तत्क्षण ही मनोयोग, वचनयोग एव काययोग को काम मे लेते हैं, जिसमे वे भगवान् अचिन्त्य प्रभावशाली केवली समुद्घात के बल मे अधिक स्थिति वाले अवधारणीय नाम, गोत्र एव वेदनीय कर्म को आयुष्य कर्म के समान बनाकर अन्तर्मुहूर्त मे परम पद को प्राप्त हो जाते है। उस समय जो अनुत्तर विमान के देव मन मे पूछे उसका उत्तर देने के लिये मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण करके मनोयोग को काम मे लेते हैं वह भी असत्य अमृषा रूप होता है। मनुष्यादि द्वारा पूछा गया हो। या न पूछा गया हो तो भी कार्य व शात् वचन योग के पुद्गल ग्रहण करके वचन योग का व्यवहार करते हैं। वह भी सत्य और असत्य अमृषारूप होता है। इसी प्रकार गमन एव आगमन आदि मे काययोग का व्यवहार करते हैं। क्योकि भगवान् कार्यवशात् किसी स्थान से विवक्षित

स्थान में आवे या जावे, खड़े रहे बैठे, अथवा परि-श्रम दूर करने के लिये आराम करे, प्रतिहारिक पाट, पाटला, शय्या संस्तारक सन्थारा) जिसके पास से लिया हुआ हो उसको पुन. देवे। इस स्थान पर भगवान आर्य श्याम ने प्रतिहारिक पाट आदि पुनः देने का कहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि अवश्य ही अन्तर्मुहूर्त्त आयुष्य शेष रहे सभी मोक्ष के सन्मुख होने के लिये आवर्जीकरणादि आरम्भ करते हैं, विशेष आयुष्य रहने पर नही। अन्यथा ये भी ग्रहण कर सकते है। इस दृष्टि से कुछ ऐसा कहते है कि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट छः छः मास का आयुष्य शेष रहे तब समुद्घात होता है। इस बात का खण्डन समझना चाहिये। भगवान् समुद्र-घात से निवृत होने के पश्चात अन्तर्मुहूर्त में योग निरोध करते है। ऐसा औपपातिकोपाङ्ग वृत्ति में कहा है।

प्रश्न ५८:-इस संसार में कतिपय जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के पश्चात् संख्यात, असंख्यात एवं अनन्तकाल से पुनः सम्यक्त्वी होकर सिद्ध होते है और कुछ सम्य-क्त्व से पतित हुए बिना ही सिद्ध हो जाते है। वे सब उत्कर्ष से एक समय में कितने सिद्ध हो सकते है।

उत्तर-- जो जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर अनन्तकाल के पश्चात् पुनः सम्यक्त्वी होते हैं, वे एक समय में एक सौ आठ, संख्यात एवं असंख्यात काल वाले एक समय में दस दस और अपतित सम्यक्तवी एक समय

मे उत्कर्ष से चार सिद्ध होते है। ऐसा नन्दीसूत्र वृत्ति मे कहा है --

यथाः—जेसिमणंतो कालो पडिवाओ तेसि होइ अट्ठसय
अप्पडिवडिए चउरो दसग दसग च सेसाण ॥

--जिनको सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुए अनन्तकाल हो गया है वे एक समय मे १०८ सिद्ध होते है। इसी प्रकार सख्यात एव असख्यात काल वाले एक समय मे दस, दस और अपतित सम्यक्त्वी एक समय मे चार सिद्ध होते है ।

प्रश्न ५६ -सर्वार्थ सिद्ध विमान के ऊपर बारह योजन ऊंचो सिद्ध शिला है, वह मध्य भाग मे आठ योजन जाडी (मोटी) है। उसके पश्चात् कितनी हानि से कम होती हुई आसपास के भाग मे अत्यन्त पतली होगई है ?

उत्तर – श्री प्रज्ञापना सूत्र एव टीका मे तो लिखा है कि उसके पश्चात् समस्त दिशाओ एव विदिशाओ मे थोडे थोडे प्रदेशो की हानि से कम होती होती अन्त मे मक्खी के पख से भी अत्यन्त पतली हो जाती है, जिसके सम्बन्ध मे अगुली के असख्यात वे भाग जितनी जाडी कहा गया है, जो सामान्य रीति से ही है, विशेष रूप से नही। श्री उत्तराध्ययन सूत्र की कमल सयमी टीका मे तो पुन ऐसा कहा है कि-सिद्ध शिला मध्य भाग मे आठ योजन जाडी एव अन्त मे क्रमानुक्रम से घटती हुई अत्यन्त पतली है । यहा विशेष हानि का उल्लेख नही किया गया है । फिर भी प्रत्येक योजन मे अगुल पृथक्त्व (दो से

नव अंगुल तक) की हानि जाननी चाहिये। यह वात आवश्यक निर्युक्ति के अभिप्राय से कही गई है। यथा—

गंतूण जोयणं जोयणं तु परिहाइ अंगुल पहुत्तं ।

तीसेव य पेरंता मच्छी पत्ताउ तणुय अरा ॥

--योजन योजन जाने के वाद मोटाई में दो से नव अंगुल जितनी हानि होती है। प्रान्त भाग में वह सिद्ध शिला मक्खी के पंख से भी अत्यधिक पतली होती है ।

प्रश्न ६०:-तीनों भुवनों में सर्वोत्कृष्ट रूप तीर्थंकरो का, एवं उनसे अनन्त गुण हीन रूप उनके गणधरों का होता है। और उन गणधरों से अनन्त गुण हीन रूप किन्ही साधुओं का होता है या देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि का ?

उत्तर-- गणधरों से अनन्त गुण हीन रूप आहारक लब्धि वाले मुनियों के द्वारा किये गये आहारक शरीर का होता है। उनसे अनन्त गुण हीन रूप अनुत्तर देवों का, उनसे अनन्तगुण हीन रूप ग्रैवेयक देवों का, उनसे अनन्तगुण हीन रूप अच्युत देव लोक से लेकर (१२, ११, १० ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १) प्रथम देव लोक तक के देवों का रूप अनुक्रम से प्रत्येक का अनन्तगुण हीन होता है। इसी प्रकार सौधर्म देवलोक के देवता के रूप से भवनपति, ज्योतिष्क, व्यन्तर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव एवं महामाण्डलिक राजाओं का रूप क्रमशः अनन्तगुण

हीन होता है। शेष राजाओ के तथा देशवासियो के रूप षट्स्थान गत होते है।

प्रश्न ६१ –देवो का भवधारणीय शरीर उत्पत्ति समय मे वस्त्रालकार से रहित स्वाभाविक अनुपम रूप युक्त होता है, किन्तु उसके पश्चात् जब वे यथावसर वस्त्रालकार धारण करते हैं तब उनका उत्तर वैक्रिय शरीर भी वैसे ही वस्त्रालकार रहित होता है अथवा वस्त्रालकार युक्त ?

उत्तर-- देव उत्तर वैक्रिय शरीर को वस्त्रालकार युक्त ही बनाते है किन्तु इसके पश्चात् वस्त्रादि धारण नही करते। जैसा कि जीवाभिगम सूत्र मे कहा है यथा –

"सोहम्मीसाण देवा केरिसया विभूसाए पण्णत्ता गोयमा दुविहा पण्णता त वेउव्विय शरीरा य अवेउव्विय शरीरा य, तत्थण जे ते वेउव्विय सरीरा ते हार विराइयवत्था जाव दस दिसाओं उज्जोए माणा इत्यादि तत्थणं जे ते अवेउव्विय सरीरा तेण आभरण वसण रहिया पगतित्था विभूसाए पण्णता ॥"

--गौतम ने भगवान से प्रश्न किया कि–हे भगवन् ! सौधर्म ईशान देव लोक के देव कसी शोभा से युक्त होते है, हे गौतम ! देव दो प्रकार के होते हैं–१ वैक्रिय शरीर धारी अर्थात् उत्तर वैक्रिय शरीर वाले देव एव दूसरे अवैक्रिय शरीरधारी अर्थात् भवधारणीय शरीर वाले। इनमे जो उत्तर वैक्रिय शरीर वाले होते है वे हार से विभूषित वक्ष स्थल वाले दशो दिशाओ को प्रकाशित करते हैं एव जो अवैक्रिय शरीर धारी अर्थात् भव-

धारणीय शरीर वाले होते है वे वस्त्रालंकार रहित स्वाभाविक अद्भुत रूप सम्पन्न होते हैं। लोक प्रकाश में भी इसी आशय का एक श्लोक है:-

यथा:-विरच्यन्ते पुनर्ये तु सुरैरुत्तर वैक्रियाः ।
ते स्युः सम समुत्पन्न वस्त्रालंकार भासुराः ॥

प्रश्न ६२:-शास्त्रों में गर्भज मनुष्यादि को की छः पर्याप्ति कही हैं एवं भगवतीसूत्र में देवताओं की पांच पर्याप्ति कही है। यथा--

"पंच विहाए पज्जतीए पज्जत्तिभावं गच्छति ।"

इस कथन से देवताओं की पांच पर्याप्ति होने का क्या कारण है?

उत्तर-- भाषा और मन पर्याप्ति की समाप्ति में अत्यल्पकाल का अन्तर होना है। अतएव एक रूप की विवक्षा करते हुए पांच पर्याप्ति कहा है। राजप्रश्नीय सूत्र की वृत्ति में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा है कि-

"भाषा मनः पर्याप्त्योः समाप्ति कालान्तरस्य प्रायः शेष पर्याप्ति समाप्ति कालान्तर पेक्षया स्तोकत्वा देकत्वेन विवक्षण-मिति"

इधर भगवती सूत्र की वृत्ति के तृतीय शतक के प्रथम उद्देश्य मे भी पञ्च विहाए पज्जत्तोए कह कर पांच का ही उल्लेख किया है।

आहार शरीरादि की अभिनिर्वृत्ति का नाम पर्याप्ति है यह दूसरे स्थानों पर सोलह प्रकार की है। जब कि यहां पांच

प्रकार की वताते हुए भाषा एव मन पर्याप्ति के वहुश्रुत अभिप्रायो से किसी कारण वश एकत्व की विवक्षा की है। प्रवचन सारोद्धार के २३२ दो सौ वत्तीसवें द्वार मे भी

"ममगपि हुति नवर पचमछट्ठीउ अमरा"

यह लिखकर देवो की पाचवी एव छट्टी पर्याप्त समकाल कही हैं।

प्रश्न ६३—शास्त्रो मे, उत्तर दिशा मे मानसरोवर सुना जाता है वह जम्बू द्वीप मे हे या अन्य किसी द्वीप मे ? और उसका कितना प्रमाण है ?

उत्तर— उत्तर दिशामे सख्यात योजन प्रमाण वाले द्वीपो मे से किसी एक द्वीप में सख्यात कोटा कोटी योजन प्रमाण वाला मान सरोवर है। ऐसा प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे तीसरे अल्पवहुत्व पद मे कहा है।

प्रश्न ६४—हस जल मिश्रित दूध को जल से कैसे पृथक् कर केवल दूध ही पीता है जल नही ?

उत्तर— हस की जिह्वा मे अम्लत्व (खटास) होने से दूध फट कर पृथक् हो जाता है, जिससे वह जलको छोड कर केवल दूध ही पीता है।

श्री नन्दीसूत्र की वृत्ति मे कहा है कि—

"अम्बत्तणेण जीहाए कूचिया होइ खीर मुदयम्मि ।
हसो मुत्तूण जल आपियइ पय तह सुसीसो ॥"

— जिह्वा मे खटास होने से जल मे दूध फट कर पृथक् हो जाता है, जिससे हस जल छोड कर केवल दूध ही पीता है। इसी प्रकार सुशिष्य को अर्थ का पान (ग्रहण) करना चाहिये।

प्रश्न ६५--असुरकुमार देव किसी समय वैमानिक देवों के रत्नों को चुरा कर जब एकान्त में जाते हैं एवं वैमानिक देव उन पर प्रहार करते हुए उन्हें पीड़ा देते हैं तो उस समय एवं अन्य समय उनको जो दुःख होता है वह कितने काल तक रहता है ?

उत्तर— जघन्य से अन्तर्मुहूर्त तक एवं उत्कृष्ट छः मास तक दुःख रहता है। श्री भगवती सूत्र के तृतीय शतक के द्वितीय उद्देशक में इस सम्बन्ध में ऐसा कहा है :—

यथाः—"एषां रत्ना दातृणा मसुराणां कायं देहं प्रव्यथयन्ते प्रहारैर्मथ्नन्ति वैमानिकाः देवाः तेषां च प्रव्यथितानां वेदना भवति जघन्येनाऽन्तमुहूर्तमुत्कृष्टत : षण्मासान् यायावदिति, ।"

— वैमानिक देव रत्न चुराने वाले असुरों को प्रहार द्वारा पीडा देते हैं। प्रहार पीड़ित उन असुरों की यह वेदना (पीड़ा) जघन्य से अन्तमुहूर्त तक एवं उत्कृप्ट छः मास तक रहती है।

योग शास्त्र वृत्ति में तो देवताओं को प्रा ः सातावेदनी कहा है, यदि असाता वेदनी हो भी तो केवल अन्तर्मुहूर्त्त तक, इसके पश्चात् नही।

यथाः —देवाश्च सद्वेदना एव प्रायेण भवन्ति यदिच असद्वेदना भवन्ति ततोऽन्तमुहूर्त्तमेव न पुरतः।

प्रश्न ६६–तिर्यक् जृंभक देव कहां रहते हैं ?

उत्तर— तिर्यक्-जृंभक देव व्यन्तर विशेष है। ये दीर्घवैताढ्य पर्वत काचनगिरि, चित्र-विचित्र एव यमक-समक पर्वतो मे रहते है। ऐसा श्री भगवती सूत्र के चौदहवें शतक के अष्टम उद्देश मे कहा है —

यथा :—कञ्चणगिरिकूडेसु चित्तविचित्ते जमग समगे य।
एएसु ठाणेसु वसंति तिरिअजंभगा देवा ॥

प्रश्न ६७–जिस प्रकार चक्रवर्तियो की सेवा १६ हजार व्यन्तर देव करते हैं, उसी प्रकार अर्धचक्री वासुदेवो की ८ हजार देव सेवा करते है कि नही ?

उत्तर— कुछ व्यन्तरदेव चक्रवर्ती वासुदेव प्रभृति मनुष्यो की भी भृत्य के समान सेवा करते हैं, ऐसा प्रज्ञापना सूत्र के प्रथम पद मे तथा तीर्थोद्गार प्रकीर्णक मे कहा है —

यथा :—"अट्ठय देवसहस्सा अभिओगा सव्व कज्जेसु।"
समस्त कार्यो के लिये आठ हजार आभियोगिक देव नियुक्त होते हैं।

प्रश्न ६८–चतुर्दश-पूर्वधर मुनि को देवगति प्राप्त होने पर पूर्व पठित सम्पूर्ण श्रुत स्मरण रहता है अथवा कम ?

उत्तर— प्राय पूर्व पठित श्रुत का थोडा ही भाग स्मरण रहता है, सम्पूर्ण नही। इस सम्बन्ध मे वृहत्कल्प वृत्ति की पीठिका मे कहा है कि—

चउदस पुव्वी मणुओ देवत्ते त ण संभरइ सव्व।
देसमि होइ भयणा सट्ठाण भवे वि भयणा उ ॥

—चतुर्दश पूर्वधर–मनुष्य जब देवत्व प्राप्त कर लेता है तो उसको सम्पूर्ण श्रुत स्मरण नही रहता; क्योंकि उसमें विषय एवं प्रमाद की अधिकता हो जाती है, साथ ही तथाविधरा उस प्रकार के उपयोग का अभाव भी रहता है। परन्तु किसी-किसी को देश (कुछ भाग) की स्मृति रहती है, किसीको उसके भी किसी भाग का स्मरण रहता है, किसी को ग्यारह अंगों में सबका स्मरण रहता है। एवं किसी को इन ग्यारह अंगों के किसी भाग का स्मरण रहता है। मनुष्य भव में भी अधीत सर्व श्रुत (पढ़ा हुआ समस्त विषय) स्मरण रहता भी है एवं न भी रहता है। क्योकि इसमें भी श्रुत ज्ञान के विनाशक—मिथ्यात्वोदय, भवान्तर जन्म, केवल ज्ञान, व्याधि, एवं प्रमाद आदि कई कारण है। इसी प्रकार विशेषावश्यक में भी कहा है एवं श्री ज्ञातासूत्र के चौदहवें अध्ययन में तो तेतली मन्त्रीको पूर्वाधीत चतुर्दश पूर्व के स्मरण होने का उल्लेख है।

प्रश्न ६९ देव एव नारकी जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण करते है उनको तथा कार्मण शरीर के पुद्गलों को अवधि ज्ञानादि से जानते है व देखते है या नही ?

उत्तर— नारकी तो उन पुद्गलों को न तो जानते ही है एवं न देखते है। देवों मे कोई जानते है कोई नही जानते ! श्री समवायाङ्ग सूत्र-वृत्ति में ऐसा ही कहा है, जिसका संक्षिप्त पाठ इस प्रकार है :—

"पोग्गलानेव जाणंति त्ति।"

अर्थात् नारकी जिन पुद्गलों को आहार रूप में ग्रहण करते है उनको वे अवधि ज्ञान से नहीं जानते, क्योकि वे पुद्गल उनके अवधि ज्ञान के विपय भूत नही होते। इसी प्रकार लोकाहार

होने मे आखो के द्वारा देख भी नही सकते। यही बात असुर व्यन्तर एव ज्योतिष देवो के लिये भी है। वैमानिको मे तो जो देव सम्यक दृष्टि होते है वे विशिष्ट अवधि ज्ञान वाले होने मे पुद्‌गलो को जानते हैं व विशिष्ट चक्षु होने से देखते भी है। मिथ्या दृष्टि वाले तो अपने प्रत्यक्ष एव परोक्ष ज्ञान की अस्पष्टता से न तो जानते ही हैं न देखते है। सग्रहणी वृत्ति मे तो ऐसा अधिकार हैं कि—देवो के मनसे सकल्पित शुभ पुद्गल समस्त शरीर से आहार रूप मे परिणत हो जाते हैं एव नारकियो के आहार के पुद्‌गल तो अशुभ होते हैं। ग्रहण किये गये उन पुद्‌गलो को विशुद्ध-अवधि एव चक्षु के सद्भाव मे अनुत्तर विमान के देव ही जानते हैं एवं देखते हैं नारक व्यन्तर ज्योतिष एव ग्रैवेयक तक के देव भी नही जानते हैं एव नहीं देखते है प्रज्ञापना वृत्ति मे भी इसी प्रकार के अभिप्राय को व्यक्त किया गया है। तत्त्व तो केवली ही जाने।

इसी प्रकार कार्मण शरीर के पुद्‌गलो को भी अनुत्तर देव ही जानते हैं व देखते हैं ग्रैवेयक तक के अन्य देव—नारक न तो जानते ही है न देखते हैं, क्योकि वे पुद्‌गल उनके अवधि ज्ञान के विषय भूत नही है।

यद्यपि वारह देव लोक एव नवग्रैवेय को मे भी सम्यक् दृष्टि देव हैं, परन्तु उनका अवधि ज्ञान कार्मण शरीर के पुद्‌गलो का विषयी भूत नही है।

प्रश्न ७० —कुछ अभव्य जीव भी यथा प्रवृत्ति करण के द्वारा ग्रन्थि देश मे स्थित हो, द्रव्य लिंग (साधु वेश) को प्राप्त कर श्रुत अभ्यास करें तो कितना श्रुत प्राप्त कर सकते हैं तथा क्रिया बल में स्वर्ग मे जावें तो कहा तक जा सकते हैं ?

उत्तर:—अभव्य जीव उत्कृष्ट से ग्यारह अंक जितना श्रुत प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा विशेषावश्यक सूत्र वृत्ति में कहा है:- यथा:—

तित्थंकराइ पूअं दुट्ठं, अणोण वा वि कज्जेण।
सुअ सामाइय लाभो, होई अभव्वस्स गंठिम्मि॥

—अतिशयवती अर्हदादि विभूति देखकर धर्म से इस-प्रकार का सत्कार अथवा देवत्व एवं राज्य प्राप्ति होती है। इस प्रकार (मैं भी करूं) ऐसी वुद्धि उत्पन्न होने से अभव्य-जीव भी ग्रन्थि देश को प्राप्त हो जाता है एवं उस विभूति के निमित्त से देवत्व, राजत्व एवं सौभाग्य वलादि के लक्षण से अथवा अन्य किसी प्रयोजन से मोक्ष की श्रद्धा से सर्वथा रहित होकर कष्ठानुष्टान को कुछ अंशों में अंगीकार करता हुआ ज्ञानरूप मात्र श्रुत सामायिक का लाभ प्राप्त करता है। जो ग्यारह अंग जितना होता है। इसी प्रकार अभव्य जीव उत्कर्ष से ऊपर के ग्रैवेयक देव लोक तक जाते हैं।

इस सम्बन्ध में श्री भगवती सूत्र के प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक में इस प्रकार कहा है:—

यथा:—"मिथ्यादृष्टय एव अभव्या भव्या वा असंयत भव्य द्रव्य देवाः श्रमणगुणधारिणो निखिल समाचार्यनुष्ठान्तयुक्ताः द्रव्यलिङ्ग धारिणो गृह्यन्ते, तेहि अखिल केवल क्रिया-प्रभावत एव उपरिम ग्रैवेयकेषु उत्पद्यन्ते, इति असंयताश्च ते सत्यपि अनुष्ठाने चारित्र परिणाम शून्यत्वात्।"

—मिथ्यात्व दृष्टि वाले अभव्य या भव्य, असयत भव्य द्रव्य देव साधु के गुणो को धारण करने वाले समग्र समाचारी की अनुष्ठान क्रिया से युक्त द्रव्य लिंग को धारण करने वाले ग्रहण करते है, वे समग्र क्रिया के प्रभाव से ही ऊपर के ग्रैवेयक मे उत्पन्न होते है और चारित्र क्रिया करते हुए भी चारित्र के परिणाम से रहित होने पर असयत कहलाते हैं।

इसी प्रकार प्रवचन सारोद्धार टीका के १०६ वे द्वार मे भी कहा है—

यथाः—"यत्तु क्वचित् नव पूर्वान्तं श्रुतम्-अभव्यानाम् अङ्गारमर्दकाचार्यादीनाम् श्रूयते, तद् तत्र पाठमात्रं तेषा पूर्वलब्धेरभावात्, यद् वा नव पूर्वाणि पूर्वधर लब्धि विनाऽपि भवन्ति।"

—जो कोई नव पूर्वान्त श्रुत अभव्य अङ्गारमर्दकाचार्य आदि का सुना जाता है, वह सूत्र पाठ मात्र मे ही समझना चाहिये, अर्थ मे नही। क्योकि अभव्यो को पूर्व लब्धि का अभाव होता है अथवा नव पूर्व पूर्वधर की लब्धि के बिना भी होते है।

प्रश्न ७१—१ आमर्षौषधि, २ विप्रुडौषधि, ३ खेलौषधि, ४ जल्लौषधि, ५ सर्वौषधि, ६ सभिन्नश्रोत, ७ अवधिज्ञान, ८ ऋजुमति, ९ विपुलमति, १० चारिण, ११ आशीविष, १२ केवल, १३ गणधर पद, १४ पूर्वधर, १५ तीर्थंकर, १६ चक्रवर्त्ती, १७ वासुदेव, १८ बलदेव, १९ क्षीरास्रव मधुआस्रव सर्पिरास्रव, २० कोष्टक बुद्धि, २१ पदानुसारी,

२२ वीज वुद्धि, २३ तेजोलेश्या, २४ आहारकशरीर, २५ शीतलेश्या, २६ वैक्रिय शरीर २७ अक्षीण महानसी, २८ पुलाक लब्धि, ये अट्ठाईस लब्धियां भव्य पुरुषों को होती हैं, परन्तु भव्य स्त्रियों को, अभव्य पुरुषों को एवं अभव्य स्त्रियों को कितनी होती है।

उत्तर— इन अट्ठाईस लब्धियों में से १ अरि हन्त, २ चक्रवर्ती, ३ वासुदेव, ४ वलदेव, ५ संभिन्नश्रोत्, ६ चारण, ७ पूर्वधर, ८ गणधर, ९ पुलाक, एवं १० आहारक ये दस लब्धियां भव्य स्त्रियों को नहीं होती है। शेष १८ लब्धियाँ होती हैं। जो मल्लिनाथ स्वामी को स्त्रीपने में तीर्थंकर पद प्राप्त हुआ है, वह आश्चर्यभूत होने से नहीं गिनना चाहिये। इसी प्रकार केवली, ऋजुमति, एवं विपुलमति रूप तीन लब्धियों के सहित उपर्युक्त दस लब्धियाँ अर्थात् १३ लब्धियाँ अभव्य पुरुषों को नही होती है, शेष १५ लब्धियाँ होती हैं। ऐसे ही अभव्य स्त्रियों को भी ये ऊपर कही गई १३ लब्धियाँ नही होतीं एवं १४ वीं मधुक्षीरासव लब्धि भी इनको नहीं होती। शेष १४ लब्धियाँ होती है।

प्रवचन सारोद्धार सूत्र में इसी आशय की गाथाए इस प्रकार है :—

"भवसिद्धिय पुरिसाणं एयाओ हुंति भणियलद्धीओ।
भवसिद्धिय महिलाण वि जत्तिय जायंति तं वोच्छं॥१॥

अरिहंत चक्कि केसव बल संभिन्ने य चारणा पुव्वा ।
गणहर पुलाय आहारग च न हु भविय महिलाणं ॥२॥
अभविय पुरिसाण पुण दस पुव्विल्लाउ केवलि त्तं च ।
उज्जुमई विउमई तेरस एयाउ नहु हुंति ॥ ३ ॥
अभविय महिलाणं पि हु एयाउण हुंति भणिय लद्धिओ ।
महुक्खीरा सव्वलद्धी वि नेय सेसा उ अविरुद्धा ॥४॥

प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे स्त्रियो के मुक्ति स्थापन-अधिकार मे जो कहा गया है वह इस प्रकार है —

"वादनिकुर्वणत्वादि लब्धीविरहे श्रुते कनीयसिच जिनकल्प मनःपर्यव विरहेऽपि न सिद्धि विरहोऽस्ति ।"

—वाद वैक्रिय लब्धि का अभाव, अल्पश्रुतत्व जिन कल्प एव मन पर्यव का अभाव होने पर भी सिद्धि का अभाव नही है ।

दूसरे ग्रन्थ की इस गाथा मे से जो स्त्रियो की वैक्रिय लब्धि का अभाव कहा गया है, वह दूसरो का मत है जो विना विचार किये ही कहा गया मालूम होता है। क्योकि ऐसा मान लेने पर प्रज्ञापना सूत्र की टीका के तृतीय अल्पबहुत्व पद मे स्त्रियो के वैक्रिय समुद्घात का जो कथन आया है, वह असगत हो जाता है ।

शका—अट्ठाईस लब्धियो के अतिरिक्त और भी कोई लब्धिया हैं या नही ?

समाधान—इनके अतिरिक्त अन्य लब्धियां और भी हैं। प्रवचन सारोद्धार टीका में कहा है कि—

"एमाई हुंति लद्धिओ।"

अर्थात्—२८ आदि लब्धियां होती हैं। यहां आदि शब्द से यह जानना चाहिये कि अन्य जीवों को शुभ-शुभतर एवं शुभतम परिणामों से तथा असाधारण तप के प्रभाव से नाना-प्रकार की ऋद्धि विशेष लब्धियां होती हैं।

प्रश्न ७२-अणिमादि आठ सिद्धियों का समावेश कौनसी लब्धि में होता है ?

उत्तर— इन सिद्धियों का समावेश वैक्रियलब्धि के अन्तर्गत होना माना जाता है।

इस सम्बन्ध में योग शास्त्र वृत्ति में श्री हेमचन्द्राचार्य नें इस प्रकार कहा है :—

यथा :—'वैक्रिया लब्धयोऽनेकधा-अणुत्व, महत्व लघुत्व गुरुत्व प्राप्तिकाम्येशित्वशित्वाऽप्रतिघातित्वान्त-र्धानत्वकामरूपादि भेदात्।"

—वैक्रिय लब्धियाँ अणुत्वादि भेद से अनेक प्रकार की हैं, अणुत्वादि भेद की विवेचना क्रम से इस प्रकार है :—

अणुत्व—छोटे-से-छोटा शरीर बनाना, जिससे कमलतन्तु के छिद्र में भी प्रवेश करके चक्रवर्ती के भोगों का उपभोग किया जा सकता है।

महत्व—मेरु से भी बड़ा शरीर बनाने का सामर्थ्य।

लघुत्व—पवन से भी अधिक हलका शरीर बनाना।

गुरुत्व—वज्र से भी अधिक भारी ऐसा शरीर बनाना जो प्रकृष्ट बलवाले इन्द्रादि देवताओ को भी दु सह हो।

प्राप्ति—भूमिस्थित अ गुली के अग्रभाग से मेरुपर्वत के अग्रभाग तथा प्रभाकरादि को स्पर्श करना।

प्राकाम्य—जल मे, भूमि के समान प्रवेश किये बिना ही चलने की शक्ति एंव भूमि मे जल के समान डूबने तथा ऊपर आने की शक्ति होना।

ईशित्व—तीनो लोको की प्रभुता, तीर्थंकर एव इन्द्र की ऋद्धि को विकुर्वित करने की शक्ति।

वशित्व—समस्त जीवो को वश मे करने की शक्ति प्राप्त करना।

अप्रतिघातित्व—पर्वतो के अन्दर भी नि शक होकर चलना।

अन्तर्धान—अदृश्य होने की शक्ति।

कामरुपित्व—एक साथ ही विविध प्रकार के रूप बनाने की शक्ति, इत्यादि ये महान् ऋद्धिया है। यहा 'एमाईत्ति' मे आदि शब्द से ये लब्धिया ग्रहण की गई है।

प्रश्न ७३—तेजो लेश्या कितने क्षेत्रो मे रहे हुए पदार्थो को जला सकती है ?

उत्तर— श्री भगवती सूत्र की टीका मे श्री गौतम स्वामी के वर्णन के अन्तर्गत अनेक योजनाश्रित द्रव्यो को तेजोलेश्या जला सकती हैं। ऐसा ही प्रवचन सारोद्धार टीका मे भी कहा है।

शंका—कहीं, तेजो लेश्या का सामर्थ्य सोलह देश को जलाने का लिखा है, यह कैसे ?

समाधान—यह भी श्री भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक के अनुसार ही कहा गया है। श्री भगवती सूत्र में सोलह देश जलाने की शक्ति तेजोलेश्या की कही है, वह इस प्रकार है—

पाठ—"अज्जोत्ति समणे भगवं महावीरे समणेणिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासि जाव तिण्णं अज्जो गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं ममवहाए सरीर गंसि तेयं णिसट्ठे सेणं अलादि पज्जंते सोल्सगहं जणवयाणं तं० अंगाणं वंगाणं कलिंगाणं मगहाणं मलहाणं मलयाणं मालवगाणं अच्छाणं वच्छाणं कच्छाणं पाढाण लाढाणंवज्जीणं मोलीणं कोसल-गाणं आवाहाणं संभुत्तराणं घाताए वहाएउच्छादणायाए भासीकरणयाए त्ति"

—श्रमण भगवान् महावीर श्रमण निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहते हैं कि—हे आर्य ! मंखलि पुत्र गोशाल के द्वारा मेरे वध के लिये उसके शरीर में रहा हुआ जो तेज निकाला गया वही तेज सोलह देशों को जला सकता है। उन १६ देशों के नाम इस प्रकार हैं— १ अंग, २ वंग, ३ कलिग, ४ मगध, ५ मलय. ६ मालव, ७ अच्छ, ८ वच्छ. ९ कच्छ, १० पाढ, ११ लाढ, १२ वर्जी, १३ मोली, १४ कोशल, १५ आवाह एवं १६ संभूत्तहर। उसके शरीर का वही तेज इन सोलह देशों के घात, वध, नाश एवं भस्म करने में समर्थ है। तेजोलेश्या का यह सामर्थ्य सामान्यतया नही कहा गया है, किन्तु विशेष विवक्षा के साथ ही कहा गया मालूम होता है।

प्रश्न ७४ —"सव्वस्स उण्हसिद्ध रसाइ आहार पाग जणग च
तेयगलद्धि निमित्त च तेयगं होइ नायव्व ॥"

—समस्त जीवो के लिये उष्णता मे सिद्ध होने वाले रसादि आहार की परिपक्व स्थिति उत्पन्न करने वाला तेज तेजसलब्धि का कारण भूत होता है, ऐसा जानना चाहिये। इस प्रकार जीवाभिगम वृत्ति के उल्लेखानुसार तेजोलेश्या तो तेजस् शरीर से प्रगट होती है, परन्तु शीत लेश्या कहाँ से प्रगट होती है ?

उत्तर—शीतलेश्या भी तेजस् शरीर से ही प्रगट होती है। श्री तत्वार्थ सूत्र की टीका मे कहा है कि—

यथाः—"यदा उत्तरगुण प्रत्यया लब्धि रुत्पन्ना भवति तदा
परं प्रतिदाहाय निसृजति रोष निपादमानो गोशाला-
दिवत् प्रसन्नस्तु शीत तेजसा अनुगृह्णाति।"

—जब उत्तर गुण प्रत्यय वाली लब्धि उत्पन्न हो तब दूसरो को जलाने के लिये गोशाल के समान क्रोधमयी तेजोलेश्या प्रगट होती है और जब प्रसन्न हो तो शीतलेश्या से दूसरो का उपकार करती है।

लोक प्रकाश मे भी इसी प्रकार कहा है —

यथा —"अस्मादेव भवत्येव शीतलेश्या विनिर्गतिः।
स्याता च रोषतोषाभ्यां निग्रहानुग्रहान्वितः ॥

—तेजस् शरीर से ही शीतलेश्या निकलती है, जो क्रोध एव प्रसन्नता मे क्रमश निग्रह तथा अनुग्रह करती है।

प्रश्न ७५:-आहारक लब्धिधर मुनि एवं विद्याधर आदि अपनी लब्धि से उत्कृष्टतापूर्वक तिर्यक् लोक में कितने दूर जाते है ?

उत्तर— आहारक लब्धिधर उत्कृष्ट महाविदेह तक, विद्या-चारण मुनि एवं विद्याधर नन्दीश्वर द्वीप तक, जंघा चारण रुचक द्वीप तक तिर्यक्-लोक में जाते हैं।

संग्रहणी टीका में कहा है कि—

"औदारिकस्य तिर्यग् उत्कृष्टो विषयो विद्याधरान् आश्रित्याऽऽनन्दीश्वरात्, जङ्घाचारणात्, प्रत्यारूचक पर्वतात् ऊर्ध्वम् उभयान् प्रत्यापण्डुक वनात् ।" वैक्रियस्याऽसंख्येया द्वीप समुद्राः, आहारकस्यम हाविदेहः, तैजसकर्मणयोः सर्वलोकः, इत्यादि ।

—औदारिक शरीर का तिर्यक् उत्कृष्ट विषय विद्याधरों को आश्रित कर नन्दीश्वर द्वीप तक, जंघाचारण मुनियों को आश्रित कर रुचक द्वीप तक, एवं ऊँचा तो दोनों को आश्रित कर पाण्डुक वन तक, वैक्रिय शरीर को आश्रित कर तिर्यक्-विषय असंख्यात द्वीप समुद्र तक, आहारक-शरीर को आश्रित कर महाविदेह तक एवं तेजस कार्मण शरीर को आश्रित कर समस्त लोक तक समझना चाहिये।

श्री जिनलाभसूर्यादिसद्गुरुणामनुग्रहात् ।
क्षमाकल्याण गणिना निर्मिते स्मृति हेतवे ॥ १ ॥
प्रश्नोत्तर सार्धशते, पूर्वार्ध परिपूर्णताम् ।
गतं स्यादत्र यः कश्चिद् दोषःशोध्यःसकोविदैः ॥२॥

—श्री जिनलाभ-सूरि आदि सद्गुरजनो के अनुग्रह से क्षमा कल्याण गणि के द्वारा अपनी स्मृति के लिये निर्मित प्रश्नोत्तर सार्धशतक का यह पूर्वार्ध परिपूर्णता को प्राप्त हुआ है। इसमे जो कुछ भी दोप (त्रुटि) हो उसका सशोधन विद्वज्जन करें। (ऐसी प्रार्थना है।)

इति प्रश्नोत्तर सार्धशत



प्रश्नोत्तर सार्धशतकम्

(उत्तरार्द्धम्)

[प्रश्नोत्तर ७६ से ९९ तक]

प्रश्नोत्तर सार्धशतकम्

(उत्तरार्द्धम्)

प्रणम्य परमानन्द सम्पन्न नाभिनन्दनम् ।
स ग्रहेऽथोत्तरार्धस्य यते सद्बोध वृद्धये ॥

—परमानन्द से सम्पन्न नाभिनन्दन श्रीऋषभदेव स्वामी को नमस्कार करके सद्बोध की वृद्धि के लिये अब मैं उत्तरार्ध के सग्रह मे प्रयत्न करता हूँ ।

प्रश्न ७६–वर्तमान समय मे शिष्यादि के दीक्षादि कार्यों में जिन प्रतिमाओ पर गुरुजन वासक्षेप करते हैं, यह द्रव्यस्तव होने से साधुओ को करना उचित है या अनुचित ?

उत्तर— दीक्षादि विधि मे भगवान की प्रतिमाओ पर द्रव्य-स्तव होने पर भी वासक्षेप करना साधुओ के लिये भगवान् ने विधेय रूप मे आज्ञा दी है। सर्वथा निषेध नही किया है, अत उचित है ।

श्री हरिभद्रसूरि ने पञ्चवस्तुक ग्रन्थ मे दीक्षा विधि प्रकरण मे ऐसा लिखा है-

यथा:—तत्तो य गुरुवासे गिण्हिय लोगुत्तमाण पाएसु ।
देइय तओ कमेण सव्वेसि साहुसाईण ॥

—इसके पश्चात् गुरुमहाराज वासक्षेप लेकर भगवान् के चरणों पर डाले बाद में अनुक्रम मे साधु आदि पर डाले। गुरु महाराज स्वयं निर्ग्रन्थ होते हैं, अतः श्रावक का लाया हुआ वासक्षेप करना चाहिये।

प्रश्न ७७—जम्बूद्वीप में स्थित जंघाचारण आदि साधु, जब चैत्यवन्दन के लिये रुचकद्वीप आदि में जाते हैं, तब मध्य में लवण समुद्र के अन्तर्गत सोलह हजार ऊँचो लवण समुद्र की शिखा का कैसे उल्लंघन करते है, क्योंकि ऐसा करने से सचित्त जल के स्पर्श होने की सम्भावना रहती है?

उत्तर-- वे साधु-मुनिराज प्रारम्भ से ही तिरछे नही जाते हैं, किन्तु प्रारम्भ में साधिक सतरह हजार योजन ऊँचे जाकर बाद में तिरछे जाते हैं, जिससे जलस्पर्श नहीं होता।

श्री समवायांग सूत्र की टीक कहा है कि--

यथा :--"लवणेणं समुद्दे सत्तर स जोयण सहस्साइं सव्वग्गेणं पण्णत्ते इमीसे णं रयणप्प भाए पुढवीए बहुसम रमणिज्जाओ भूमि भागाओ सातिरेगाइं सत्तर सजोयण सहस्साइं उड्ढं उप्पइत्ता तत्तो पच्छा चारणाणं तिरिअं गई पवत्तइ त्ति सूत्रं चारणाणांति जंघा चारणाणं विद्याचारणाणं तिरियंति तिर्यक् रुचिकादि द्वीपगमनाय इति तद्वृत्तिः।"

--लवण समुद्र मे कुल सत्तर हजार योजन की शिखा कही गई है। इस रत्न प्रभा पृथ्वी के समभूभाग से कुछ अधिक सत्तर हजार योजन ऊँचे जाकर बाद मे चारण आदि मुनि रुचक द्वीप मे जाने के लिये तिरछी गति करते हैं।

प्रश्न ७८—साधुओ को गृहस्थ के पास से फाडा हुआ ही वस्त्र माँग कर धारण करना उचित है, किन्तु यदि फाडा हुआ वस्त्र न मिले तो स्वय फाडे कि नही ?

उत्तर— प्रमाण युक्त फाडा हुआ वस्त्र न मिले तो साधु स्वय भी फाडले। यह बात वृहत्कल्पवृत्ति के द्वितीय खण्ड मे शका समाधान पूर्वक कही है।

वृहत्कल्पवृत्ति का वह पाठ इस प्रकार है —

यथा :—"नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गथीण वा अभिन्नाइ वत्थाइ धारित्तए ॥"

—"निग्रन्थ साधु साध्वियो को बिना फाडा गया वस्त्र धारण करना या लेना कल्पता नही है।" इसलिए फाडा हुआ वस्त्र ही ग्रहण करना चाहिए। यदि, ऐसा वस्त्र न मिले तो जितने प्रमाण मे अतिरिक्त हेय हो उसे स्वय फाड कर प्रमाण युक्त करे।

यहा कुछ लोग यह शका करते है कि वस्त्र फाडने मे शब्द उत्पन्न होता है, जिससे सूक्ष्म पख वाले जीव उडते है। ये दोनो ही (निकले हुए शब्द एव जीव) लोक के अन्त तक जाते है। अथवा शब्द से प्रेरित एव चालित होकर अन्य

पुद्गल भी लोक के अन्त तक पहुंच जाते हैं और उनके देह के चलने से पवन आदि फैलते हुए समग्र लोक में व्याप्त हो जाते हैं उससे सूक्ष्म जीवों की विराधना (हिंसा) होती है। इसलिए इस आरम्भ को सावद्य जान कर जैसा वस्त्र मिले वैसा ही काम में लेना चाहिये, फाड़ना नहीं। श्री भगवती सूत्र में भी हिलने डुलने (चलने-फिरने) वाले जीव के लिये मोक्ष का निषेध कहा है। संयम के साधन भूत शरीर के निर्वाह के लिये भिक्षा-भ्रमण, (गोचरी जाना) भोजन, शयन आदि क्रियाओं का परिहार तो अशक्य होने से सर्वथा निषेध नही किया जा सकता। इसलिये वस्त्र फाड़ने की क्रिया साधु-साध्वियों को नही करना चाहिये। इस प्रकार वादियों के द्वारा अपना पक्ष स्थापित करने के पश्चात् सूरिजी महाराज ने समाधान करते हुए कहा कि—

"आरम्भमिट्ठो जई"

—यत्ना पूर्वक किया हुआ आरम्भ इष्ट है। हे वादिन् ! वस्त्र छेदते (फाड़ते) हुए एक बार थोड़ा दोष लगता है, परन्तु वस्त्र न फाड़ने पर तो प्रमाण से अधिक वस्त्र की पडिलेहण करते हुए पृथ्वी पर स्पर्श एवं हलन-चलन होनेसे प्रतिदिन दोष लगते हैं तथा उन वस्त्रों को धारण करने पर विभूषा आदि जो दोष लगते है उनका तो तू विचार कर !

शंका-वादी पुनः कहता है :—यदि वस्त्र फाड़ने में तुम्हारे मत से भी एकबार दोष लगता है तो ऐसे वस्त्र का ही त्याग कर देना चाहिये। गृहस्थों ने अपने लिये जो वस्त्र फाड़े हों वे ही ग्रहण करना उचित है।

समाधान —इसका समाधान करते हुए पुन कहा कि—

"घेतव्वगं" —

यदि फाडे हुए वस्त्र का शोध किया जाय तो उसके लिये लम्बा समय लगने के कारण सूत्र एव अर्थ पोरसी (स्वाध्याय) की हानि होती है। इसी प्रकार जो यह वस्त्र छेदन रूप दोष है, वह पडिलेघाण शुद्धि आदि सेवहुगुणवाला है, इसलिये उसी समय साधु वस्त्र को प्रमाण युक्त कर लेत है, जिससे सूत्रार्थ व्याघातिक किसी प्रकार का दोप नही लगता। जिस प्रकार यत्नपूर्वक किया गया आहार निहारादि विषयक समस्त योग तुम्हारे मत से साधु के लिये निर्दोष है, उसी प्रकार उपकरण आदि का छेदन भी यदि यतनापूवक किया जाय तो निर्दोष ही होना है, ऐसा मानना चाहिये।

द्रव्य एव भाव से हिंसकत्व की स्थिति मे चार भग (भेद) होते है —(अर्थात् हिंसा के चार भेद होते हैं) १ द्रव्य मे की गई हिंसा, भावमे नही। २ भाव मे की गई हिंसा, द्रव्य से नही। ३ द्रव्य एव भाव मे की गई हिंसा। ४ द्रव्य एव भाव मे भी न की गई हिंसा। यहा प्रथम भग (भेद) के अनुसार हिंसा करने वाले को भी भगवान ने अहिंसक ही कहा है। इसी प्रकार दोनो ओर मे फाडा गया वस्त्र लक्षण रहित होता है तथा मध्य मे ऊपर मे फाडा गया वस्त्र भी लक्षण रहित ही होता है, ऐसा वस्त्र लेने से तो उलटी ज्ञानादि की हानि होती है, किसी प्रकार का गुण नही होता। ऐसे वस्त्र को लेना उचित नही। किन्तु प्रशस्त वर्ण, सस्थान आदि लक्षण युक्त उपाधि ही साधुओं के ज्ञान दर्शन-चारित्र की वृद्धि करने वाली होता है, अत लक्षणरहित उपाधि नही लेना चाहिये। इससे

सकते हैं। जैसा कि बृहत्कल्प सूत्र की टीका के द्वितीय खण्ड में कहा है किः—

"सक्खेते परक्खेते वा दो मासे परिहरितु गेण्हंति।
जं कारणेण णिग्गयं तं पि बहिज्झोसियं जाणे॥

—अपने ही क्षेत्र में यदि चातुर्मास किया हो एवं दूसरे क्षेत्र में दूसरे संविग्नों ने चातुर्मास किया हो तो स्वक्षेत्र एव परक्षेत्र में दूसरे मास के पश्चात् तीसरे मास में वस्त्रादि ग्रहण करना चाहिये। कारणवश दो मास के मध्य में ग्रहण किये जा सकते हैं।

प्रश्न ८१:–साधुओं ने जिस स्थान पर चातुर्मास किया हो उस स्थान पर वे कितने मास के बाद पुनः रह सकते है ?

उत्तर :— साधुओं ने जिस स्थान पर चातुर्मास किया हो, उस स्थान पर वे दो तीन मास बाद पुनः रह सकते है, पहिले नही। यह वात आचारांग सूत्र वृत्ति के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन एव उसके द्वितीय उद्देशक में कही गई है कि साधु भगवन्त ग्राम नगरादि में अन्य समय में एक मास रह कर विहार करे एवं बाद में एक मास दूसरे स्थान पर रहकर पुनः उसी स्थान पर आकर रह सकते है। परन्तु जहां चातुर्मास किया हो, उस क्षेत्र में तो दो तीन मास वाद ही रहा जा सकता है, उससे पहिले नही। दो तीन मास का अन्तर दिये विना यदि कोई चातुर्मास वाले स्थान पर आकर रहता है तो वह स्थान उपस्थान क्रिया के दोष से दूषित हो जाता है, इसलिये वहां रहना उचित नही।

प्रश्न ८२ -जिस प्रकार साधुओ के नवकल्पी विहार है, उसी प्रकार साध्वियो के भी होना है या कोई अन्य प्रकार है ?

उत्तर -- साधुओ के आठ मास कल्प एव नवमा वर्षाकल्प अर्थात् चातुर्मास इस प्रकार नवकल्पी विहार होता है एव साध्वियो के तो एक वर्षाकल्प और चार मास कल्प इस प्रकार पच कल्पी विहार होता है, क्योकि इनके दो महीने का कल्प होता है। जैसा कि पच कल्प चूर्णि मे कहा है कि—

"माहूहिं नव वसही ओ घेतव्वाओ अट्ठ उउवद्धे एगा वासासु वसही इत्यादि, अज्जाए पुण पच वसही ओ घेतव्वाओ कम्हा जम्हा तासिं दुमास कप्पो ॥

—साधुओ को नववसति ग्रहण करनी चाहिये। आठ ऋतुबद्ध काल मे याने शेष समय मे, एव एक वर्षाकाल मे। साध्वियों को पाँच वसति ग्रहण करनी उचित है, क्योकि उनके लिये दो मास का मासकल्प कहा गया है। इस प्रकार बृहत्कल्प मे भी कहा है। इसके अतिरिक्त विहार करने की इच्छा वाले साधु-साध्वी वसति (स्थान) का प्रमार्जन कर पुन विहार करे ऐसा ओघनिर्युक्ति मे उल्लेख है।

यथा,- "पमज्जिय पडिस्सया पुव्वति" इत्यादि।

—प्रथम उपाश्रय का परिमार्जन-समार्जन करके बाद मे उपधि ले एव शय्यातर को कहकर पुन साधु साध्वी को विहार करना चाहिये।

प्रश्न ८३:-किसी क्षेत्र में कोई साधु। रहते हों एवं वहां यदि कोई अतिथि (महमान) के रूप में साधु आजायँ तो वहां रहे हुए साधुओं को उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये।

उत्तर:— यदि भोजन करते समय नवीन अतिथि साधु आ जावे तो उनके मुख से निस्सही शब्द सुनने के पश्चात् मुख में रखे हुए ग्रास को खाकर पात्र में रखे हुए अन्न को छोड़ देना चाहिये। वाद में आगन्तुक साधु को यथोचित विधि से संक्षेप में आलोचना देकर मंडली में सामूहिक रूप से भोजन करे। यदि पूर्वानीत आहार में दोनों ही तृप्त हो जावें तो ठीक अन्यथा आगन्तुक साधुओं को आहार कराके अपने लिए पुनः दूसरा आहार ले आना चाहिये।

शंका-—इस प्रकार आगन्तुक साधुओं को कितने दिन तक आहार लाकर देना चाहिये ?

समाधान—

तिन्नि दिणे पाहुण्णं सव्वेसिं असहवाल वुड्ढाणं।
जे तरुणा सग्गामे वत्थव्वा वाहिं हिंडंति ॥

—यदि आगन्तुक साधु असमर्थ बाल एवं वृद्ध हों तो तीन दिन तक उसको आहारादि लाकर देना चाहिये। इसके पश्चात् आगन्तुक साधु अपने ग्राम में गोचरी के लिये जावे और पूर्व में रहे हुए साधु गॉव से वाहर गोचरी लेने जावें। यदि वे आगन्तुक साधु अकेले गोचरी जाने में समर्थ न हो तो दोनों समूहों में से एक एक साधु मिलकर जावे। कहा भी है कि—

"सभोइश्रा ते चेवत्ति।"

—यदि सभोगिक-अर्थात् एक समाचारी वाले साधु वहाँ हो तो वहा रहे हुए साधु ही गोचरी लावे। यदि सभोगिक के पास नवागन्तुक साधुओ का कोई भक्त श्रावक आकर यह कहे कि मेरे घर साधु को गोचरी के लिये भेजो तो वहा यह कहा जाय कि यहा रहने वाले साधु ही गोचरी के लिए आवेंगे। इतना कहने पर भी यदि श्रावक अधिक आग्रह करे तो "वत्थव्वेण" वहा रहने वाले साधु के साथ एक साधु को जाना चाहिये। क्योकि वहा रहने वाला साधु ही न्यूनाधिक वस्तु ग्रहण करने मे आगन्तुको का प्रमाण होता है। इस प्रकार यहा ओघनिर्युक्ति सूत्र की टीका का अर्थ सक्षेप मे दिया गया है उसका विचार कर प्राघूर्णक विधि जाननी चाहिये। यह विधि एक समाचारी वाले साधुओ को आश्रित कर कही गई है। भिन्न समाचारी वाले साधुओ को तो पाट, पाटला आदि के लिये निमन्त्रित करना चाहिये, आहारादि के लिये नही। इस सम्बन्ध मे आचाराग सूत्र-द्वितीय स्कन्ध-सप्तम-अध्ययन-प्रथम उद्देश की टीका मे कहा है कि—

"असभोगिकान पीठ फलकादिना उपनिमन्त्रयेत् यतः तेषा तदेव पीठ फलकादि सभोग्य नाशनादिकमिति।"

—भिन्न समाचारी वाले साधुओ को पाट पाटला आदि के लिए ही निमन्त्रित करना, क्योकि उनके लिये यही सभोग्य है आहारादि नही।

प्रश्न ८४—साधु साध्वी रात्रि मे उपाश्रय के द्वार बन्द करे कि नही ?

उत्तरः-- साध्वियों को रात्रि में उपाश्रय के द्वार अवश्य वन्द करना चाहिये। किन्तु जिनकल्पी साधु कदापि द्वार वन्द नहीं करे, स्थविरकल्पी कारणवश द्वार वन्द कर सकते हैं। इस सम्वन्ध में वृहद्भाष्य की टीका में कहा है कि—

"साध्वीभिः निशि अवश्यं कपाटादिना वसति द्वारं स्थगनीयं अन्यथा प्रायश्चिताऽऽपत्तेः।" जिन-कल्पिकास्तु सर्वथा द्वारं नैव स्थगयन्ति निरपवादा-नुष्ठान परत्वात् तेषां, तथा च जिनानां भगवता-मियमाज्ञाऽस्ति यत् स्थविर कल्पिकः कारणे यत-नया द्वारं स्थगयन्ति।"

(इसका आशय ऊपर की पंक्तियों में दे दिया गया है।)

शंका--द्वार बन्द करने का क्या कारण है ?

समाधान—

पडिणीअ तेण सावय उब्भामगगोण साणणप्पज्ज।
सीयं व दुरहियासं दीहा पक्खी वा सागरिए॥

—उपाश्रय के द्वार यदि खुले हों तो विरोधी मनुष्य प्रवेश करके हनन अथवा नाश कर सकता है, इसी प्रकार उपधि चोर, शरीरचोर, सिह, व्याघ्र, आदि हिसक जन्तु, परदारिक, गाय, बैल एवं श्वान आदि भी प्रवेश कर सकते हैं। "अणप्पजत्ति" व्यग्रचित्त परवशात्मा साधु, यदि द्वार खुले हों तो निकल कर जा सकता है। इसके अतिरिक्त असह्य हिमकण संयुक्त अत्यधिक शीत भी पड़ता है, सर्प, कौए, कबूतर आदि

के प्रवेश करने के साथ ही उपाश्रय के खुले हुए द्वार देखकर कोई भी गृहस्थ वहाँ आकर शयन कर सकता है अथवा विश्राम ले सकता है। इन कारणो से उपाश्रय के द्वार वन्द किये जाते हैं।

प्रश्न ८५ — अधिक दिनो तक उल्लघन करने योग्य मार्ग मे साधु अपने साथ कुछ भी पाथेय (मार्ग के लिए भोज्य पदार्थ) रखते है कि नही ?

उत्तर — उत्सर्गवश नही रखते हैं, किन्तु अपवाद से तो रख सकते हैं। अन्यथा प्रायश्चित आता है। इस सबध मे वृहत्कल्प भाष्य मे कहा है कि—

''अग्गहणे कप्परस उ इत्यादि छिन्ने आछिन्ने वा पथि यदि अध्यकल्प न गृह णन्ति तदा चतुर्गुरवः।''

अधिक दिनो तक उल्लघन करने योग्य चालू अथवा जिसमे कभी कोई नही चला हो ऐसे मार्ग मे अपवाद मे मार्ग मे कल्पने योग्य पाथेय न ग्रहण करे तो चतुर्गुर (उपवास) का प्रायश्चित आता है।

प्रश्न ८६ — गोचरी आदि के लिये गये हुए साधु गृहस्थ के घर का द्वार खोलें या नही।

उत्तर— उत्सर्ग से तो साधु गृहस्थ के घर का द्वार नही खोले परन्तु कारणवश खोलना अपवाद मार्ग है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए श्री आचाराग सूत्रवृत्ति के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत प्रथम अध्ययन के पञ्चम उद्देश मे इस प्रकार कहा है —

यथा :--"उत्सर्गतः साधुर्गृह द्वारं नोद्घाटयेत् सति कारणे अपवादम् ।"

इस सम्वन्ध में और भी यह कहा है कि वह साधु जिनका वह घर हो उनके सम्वन्धियों से अवग्रह की याचना करके प्रमार्जन करे एव वाद में घर का द्वार खोले अर्थात् स्वतः द्वार को खोल कर प्रवेश नही करना चाहिये । यदि रुग्ण आचार्यादि के योग्य कोई प्रायोगिक द्रव्य वहा मिलता हो, वैद्य वहाँ रहता हो, उपचार के निमित्त दुर्लभ द्रव्य यदि मिलने की आशा हो, दुष्काल का समय हो तो इन कहे हुए कारणों के उपस्थित होने पर वन्द द्वार के समीप खड़े रहकर शव्द करे अथवा स्वयं विधि सहित द्वार खोलकर प्रवेश करे ।

प्रश्न ८७-कुछ निह्नव पाखण्डी अपने भोजन के पात्र में ही मूत्रोत्सर्ग कर उससे पात्र एवं वस्त्रादि धोतं है । यह उचित है अथवा अनुचित ?

उत्तर— इस प्रकार का कृत्य करना अनुचित ही है । ऐसा करने से वृहत्कल्प भाष्यवृत्ति के अनुसार प्रायश्चित आता है । इस सम्वन्ध में यह पाठ है कि—

"वड्गा अद्धाणे वा" यश्च मोकेन पात्रकमाचामति तस्यापि चतुर्गुरुकः प्रायश्चित्तं, कुतः इत्याह—यदि मोकेन धावति, तदाऽशैक्षणानामन्यथा भावो विपरिणामनं भवेत् विपरिणताश्च प्रतिगमनादीनि कुर्युः ॥"

—जो साधु मात्रा से पात्र को धोते है उनको चतुर्गुरु प्रायश्चित्त आता है, क्योंकि ऐसा करने से नवदीक्षितों की

भावना चारित्र्य पालन से गिर जाती है और वे दीक्षावस्था को भी छोड देते है।

इसी प्रकार उक्त कृत्य करने से पात्र मे दुर्गन्ध भी आती है एव भिक्षा के लिये पात्र आगे करने पर दुर्गन्धि वश लोग निन्दा करते हुए कहते है कि इन साधुओने हड्डियो की माला पहिनने वाले कापालिको को भी जीत लिया है, जिससे कि ये मात्रा मे पात्र धोते है। इस प्रकार श्रावको की भी भावना वदल जाती है।

इसके अतिरिक्त आचारागादि मे जो मोक प्रतिमा सुनी जाती है वह तो मात्र अभिग्रह रूप ही है, प्रवाह रूप नही। अत उक्त उल्लेख से किसी प्रकार का विरोध नही होता।

प्रश्न ८८ —वृद्ध साधु छोटे साधुओ को तथा साधु साध्वियो को एव पाश्वस्थ आदि को वन्दन करे कि नही ?

उत्तर— उत्सर्ग से तो वृद्ध साधु लघु साधु को तथा साध्वियो को एव पार्श्वस्थ आदि को वन्दन नही करे परन्तु अपवाद से वन्दन करना भी उचित है। ऐसा श्री वृहत्कल्प भाष्य मे कहा है। सक्षेप मे वह पाठ इस प्रकार है।

"अ तो इत्यादि"

साधु वेश मे रहे हुए हो तो वन्दन को आश्रित कर भजना होती है। *भजना कैसे होती है ?* इसका समाधान इस प्रकार है कि "ओमिति" जो दीक्षा पर्याय मे छोटा हो उसको भी प्रायश्चित आदि कार्य के निमित्त वन्दन करना चाहिये। वादमे दूसरे समय न करे। साध्वियो को भी उत्सर्ग से वन्दन नही करना चाहिये अपवाद से तो यदि कोई बहुश्रुत महत्तरा अपूर्व

श्रुतस्कन्ध को धारण करती है और उससे श्रुतस्कन्ध ग्रहण करना हो तो उद्देश समुद्देशादि के समय साधु उसको व्यवहार फेटा वन्दन करे। न केवल अन्दर ही किन्तु साधु यदि श्रेणी से बाहर रहे हों तो भी उनके वन्दन को आश्रित कर भजना मानना चाहिये। अतः उनको भी वन्दन करना उचित है। यदि उन्हें वन्दन न किया जाय तो महान् दोप होता है, जैसे कि अजापालक उपाध्याय को वन्दन न करने से अगीतार्थ शिष्य दोष को प्राप्त हुए।

प्रश्न ८९:—साधु साध्वी एवं गृहस्थ आदि का परस्पर वस्त्रादि देने लेने का व्यवहार किस प्रकार होता है।

उत्तरः——उत्सर्ग से साधु एक समाचारी वाली साध्वियों को वस्त्र एवं पात्र दे सकते है और कोई कारण उपस्थित हो जाय तो आहार भी देना चाहिये, परन्तु साध्वियों से साधु कुछ भी ग्रहण न करे। इसी प्रकार गृहस्थों से वस्त्र आदि साधु साध्वी ले सकते है परन्तु उनको कुछ भी देना नही चाहिये। बिना कारण यदि कुछ दिया जाय तो प्रायश्चित लगताहै। ऐसे ही सांभोगिक साधुओं से आदान-प्रदान दोनों हो सकते है किन्तु पार्श्वस्थादि को न तो कुछ देना चाहिये और न उनसे कुछ लेना ही चाहिये। इस सम्बन्ध में श्री पञ्चकल्पचूर्णि में कहा है कि——

"दाणग्गहण संभोगे चउभंगो दान संभोगो नामेगो नो गहण संभोगो ॥१॥ दाण संभोगो उस्सग्गेण संजईण संजएहि वत्थपत्ताइं दायव्वाणि कारणम्मि य आहारो ताणंतिगे न किंचिघेतव्वं गहण संभोगो ॥२॥ गिहत्थन्न

तित्थि एहि तो तेसि न किंचि दिज्जइ जइ तेगि निक्कारणे देइ पायच्छित्त निसभोगो ना दाणमभोगो गहणमभोगो य ॥ ३॥ मभोइआण दिज्जइ घेप्पइ य पसत्थाईण ण दिज्जइ नय घेप्पइ ॥४॥ किंचिजइ तेमि देइ गिण्हइ वा किंचि निक्कारणे पायच्छित्त निसभोगो ना ।"

—दान एव ग्रहण के सभोग मे चार भाग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—१ दान सभोग-देना परन्तु लेना नही। उत्सग से साधु साध्वियो को वस्त्र पात्र देना, कारणवश आहार भी देना, परन्तु उनसे कुछ भी लेना नही। यह प्रथम भाग है। जिसको दान मभोग कहते हैं। २ ग्रहण सभोग—गृहस्थ मे या अन्य दर्शनार्थियो से लेना, परन्तु कुछ देना नहा। यदि विना कारण दिया जाय तो विमभोग नामक प्रायश्चित आता है। यह द्वितीय भाग है, जिसको ग्रहण सभोग कहते हैं। ३ दान सभोग एव ग्रहण सभोग-एक समाचारी वाले साधुओ को सभोग एव ग्रहण सभोग—एक समाचारी वाले साधुओं को वस्त्र पात्र देना एव उनमे लेना, यह तृतीय भाग है, जिसको दान सभोग एव गहण सभोग कहते हैं। ४ न दान सभोग न ग्रहण सभोग—पार्श्वस्थ आदि को न कुछ भी देना और न उनसे कुछ भी लेना, यह चतुथ भाग है जिसका नाम न दान मभोग न ग्रहण सभोग है।

प्रश्न ६०—वाद कितने प्रकार का होता है एव वह वाद साधुओ को किसके साथ करना चाहिये तथा किसके साथ नहीं ?

उत्तर—वाद तीन प्रकार का होता है—१ शुष्कवाद

अन्यच्च—"संभोइओ संभोइणा सम निक्कारणे वादं करेइ पायच्छित्तं विसंभोगो वा, एवं पासस्थाईहिं वि कारणे पुण जइ न करेइ पायच्छित्तं विसंभोगो वा, संजईहिं संभोइयो संभोइयाहिं कारणे निक्कारणे वा वायं करेइ पायच्छित्तं विसंभोगो वा, एवमेव "संजईण वा।"

—एक समाचारी वाला साधु अपने समाचारी वाले साधु के साथ विना कारण वाद करे तो विसंभोग नामक प्रायश्चित आता है। इसी प्रकार कारण उपस्थित होने पर भी पार्श्व-स्थादि के साथ यदि वाद न करे तो विसंभोग नामक प्रायश्चित आता है। सांभोगिक साधु सांभोगिक साध्वियों के साथ कारण या विना कारण वाद करे तो भी विसंभोगक नामक प्रायश्चित आता है। यही नियम साध्वियों के लिये भी जानना चाहिये।

प्रश्न ९१—शक्तिशाली समर्थ संयमी साधु जिस प्रकार दुष्टराजा आदि से पीडित शुद्ध साधुओं की सहायता करते है, उसी प्रकार चारित्रहीन वेषधारी साधुओं की रक्षा करते है कि नहीं। इसी प्रकार देव द्रव्य का हरण करने वाले चैत्यादिका नाश करने वाले दुष्ट राजाओं को शिक्षा देते है कि नहीं ? तथा चैत्यनिमित्त नवीन चांदी-सोना आदि द्रव्य उपार्जित करते है या नहीं।

उत्तर— चरित्र निष्ठ शुद्ध साधु की सब प्रकार के प्रयत्नों से सहायता करनी चाहिये एवं चारित्रहीन साधु की एकवार सहायता कर यह उपालम्भ देना कि यदि

पुन इस प्रकार का अकार्य करोगे तो मैं तुम्हारी सहायता नही करूँगा अर्थात् तुमको पीडा से मुक्त नही कराऊँगा। इसी प्रकार मर्यादा मे रहा हुआ साधु यदि एक बार मुक्त कराने पर भी फिर पकडा जाय तो उसको सौ बार भी छुडाने का प्रयत्न करना चाहिये।

श्री पचकल्प चूर्णी मे यही बात कही है, जो इस प्रकार है —

"समत्थेण साहुणा लिगत्थाण वि साहज्ज कीरइ "तत्र" चारित्र स्थितस्य सर्वप्रयत्नेन कर्तव्यम्, यः पुनश्चारित्र हीनस्तस्य सकृत्त कायम्।"

—समर्थ साधु वेषधारी साधु की भी सहायता करे। उनमे जो चारित्य मे रहे हुए हो उनकी सब प्रकार के प्रयत्नो से सहायता करे एव जो चारित्र हीन हो, उसकी एक बार सहायता करे।

"तस्स पुणो काउ उवालम्भइ जई पुणो एरिस करेसि तो मे ण मोयमो, लिंग अणुमुयतस्स जीविया पोढस्स अपुट्ठधम्मस्स वि कीरइ जहेव सविग्गस्स।"

—चारित्र हीन की एकबार सहायता करके उपालम्भ रूप मे यह कहे कि यदि ऐसा फिर करोगे तो मै तुम्हे नही छुडाऊँगा। वेष की अनुमोदना करने वाले अपुष्टधर्मी चारित्रहीन को भी सविग्न साधु के समान सहायता करे।

"कयाइ मोइओ संतो पुणोवि वेपिज्जा किं मोएयव्वो न मोएअव्वो" उच्यते—सयं पि वारा मोएयव्वो मज्जाया पडिवन्नो।"

शका—चारित्र की मर्यादा में रहे हुए साधको एक वार छुड़ाने पर भी यदि फिर वह पकड़ा जाय तो छड़ाना कि नहीं ?

समाधान—

मर्यादा में रहे हुए साधु को सौ वार छुड़ाना चाहिये।

चैत्यादि के नवीन चाँदी सोना एवं अन्य द्रव्यादि के उपार्जन का काम गृहस्थ का है, साधु का नहीं। यदि कोई साधु उपार्जन करता है तो ज्ञान-दर्शन-चरित्र की शुद्धि नहीं होती है। पंचकल्प चूर्णि में इसका निषेध है।

इसी प्रकार चैत्य सम्बन्धी क्षेत्र स्वर्ण रजत पात्रादि का कोई वेषधारी साधु राजबल से अपहरण करे अथवा राजा के सुभट हरण करें तो तप-नियम में सम्यक् प्रकार से प्रवृत भी साधु यदि न छुड़ावे अथवा छुड़ाने का उद्यम न करे तो उसके ज्ञानादिक की शुद्धि नही होती और आशातना होती है।

किस प्रकार मुक्त करावे ? इसके लिये कहा है कि ऐसा प्रसंग उपस्थित होने पर प्रथम राजादि को मधुरवचनों से राजा आदि को शिक्षा देवे, समझावे, अथवा धर्म का उपदेश देवे। शिक्षा एवं उपदेशों से न माने तो प्रासाद कम्पन आदि से भय एव पीड़ा आदि उत्पन्न करने वाली शिक्षा देवे। श्री पंचकल्प भाष्यचूर्णि में "चेइय निमित्तं" आदि पाठ इसी आशय को व्यक्त करता है।

इसी प्रकार यह भी कहा है कि—

"कुलगणसघचेइय विणासाईसु कारणेसु नाण-
दरिसण चरित्ताइय पडिसेवमाणो सुद्धो जयणाए।"

—कुल, गण, सघ एव जिन मन्दिर के विनाश के कारण उपस्थित हो तो ज्ञान, दर्शन-चारित्र मे यतनापूर्वक अति-चार का सेवन करे तो भी शुद्ध ही गिना जाता है।

प्रश्न ६२ -जिन मन्दिर मे जिन प्रतिमा के ऊपर भ्रमरी का घर आदि हो तो उस प्रकार के उपयोगी श्रावक के अभाव मे सुविहित शुद्ध सयमधारी साधु स्वय उसको दूर कर सकते है या नही ?

उत्तर— इस कार्य मे अल्पदोष होने से साधु को स्वय दूर कर देना चाहिये। यदि न करे तो गुरु प्रायश्चित आता है। इसके सम्बन्ध मे बृहत्कल्प भाष्य मे कहा है कि-

"लूआ कोलिग जालिग कोत्थलहारी अ उवरि-
गेहे अ साडितम साडिते लहुगा गुरुगा य भत्तीए।"

—कोई भी महात्मा किसी भी ग्राम मे जिन प्रासाद को देखकर चैत्यको वन्दन करने जावे और वहा यदि मन्दिर मे स्वच्छता न हो एव भगवान की प्रतिमा के ऊपर मकडी का जाला, भवरी का घर आदि होवे और उसे देखकर उपेक्षा करे अर्थात् स्वय उनको दूर न करे तो गुरु प्रायश्चित्त को प्राप्त करता है, दूर करने पर लघु प्रायश्चित आता है, यही नियम जिन प्रतिमा के ऊपर आशातना के कारण भूत वृक्षादि के आश्रित होने पर भी जानना चाहिये।

प्रश्न ९३:-साधुओं को वस्त्र कब धोने चाहिये एवं न धोवे तो क्या दोष है ?

उत्तर— साधुओं को वर्षाकाल के पूर्व ही वस्त्र धो लेने चाहिये। यदि न धोवे तो इस प्रकार दोष लगता है-

यथा—अइभार वुडणपणए सीयल पावरणऽजीर गेलन्ने।
ओभावण कायवहो वासासु अधावणे दोसा ॥

—वर्षाकाल के पूर्व वस्त्र न धोवे तो वस्त्र मैल से भारी हो जाता है, जीर्ण हो जाता है, उसमें फूलण आ जाती है, और इस प्रकार का वस्त्र धारण करने से अजीर्ण हो जाता है, बीमारी आती है, पराभव होता है एवं अप्पकाय के जीवों की विराधना होती है।

शंका—वर्षाकाल के पूर्व वस्त्र कब धोने चाहिये ?

समाधान—

वर्षाकाल आने के पूर्व ही पन्द्रह दिन के अन्दर समस्त उपधि को यतनापूर्वक धो लेनी चाहिये। गरम जल थोड़ा हो तो जघन्य से भी पात्र परिकर (झोली पल्ला आदि) धो लेना चाहिये, जिससे गृहस्थ भिक्षा देते हुए जुगुप्सा न करे। ऐसा ओघ नियुक्ति सूत्र की टीका में उल्लेख किया गया है। वस्त्र धोने के लिये गृहस्थों के पात्रों में घरों के छप्परों का जल, वादल वर्षा करके बन्द हो जावे, तब लेना एवं उस जल में क्षार डालना, जिससे जल सचित्त न होने पावे। वस्त्र धोने के बाद एक कल्याण अर्थात् दो उपवास का प्रायश्चित देना चाहिये।

यह सम्पूर्ण अधिकार आचारांग सूत्र में दिये गये "न

धोइज्ज" इस पाठ के द्वारा जानना चाहिये, जो जिनकल्पी मुनियो की अपेक्षा से दिया गया है।

प्रश्न ९४–यदि वस्त्रो मे यूका (जू) उत्पन्न हो जाय तो वस्त्र प्रक्षालन के समय कौनसी विधि करनी चाहिये ?

उत्तर—वस्त्रो मे यदि जू उत्पन्न हो जाय तो वस्त्र के अन्दर हाथ रखकर यतनापूर्वक दूसरे वस्त्र पर जू को चढाकर पुन वस्त्र धोना चाहिये। इसी आशय को व्यक्त करते हुए श्री ओघ नियुक्ति सूत्र मे इस प्रकार कहा है कि—

"जयणा सकामणा" यतनया वस्त्रान्तरित हस्तेन अन्यस्मिन् वस्त्रे षट्पदीः सक्रामयन्ति ततो धावन्ति।"

प्रश्न ९५-स्थण्डिल जाने के लिये कितने साधु सम्मिलित रूप मे (साथ साथ) जावें एव कितना जल ले जावे ?

उत्तर— श्री ओघ नियुक्ति मे इस सम्बन्ध यह मे कहा है कि— "दो दो गच्छन्ति"—दो दो साधु साथ साथ जावे, अकेला न जावे। दो साधु जब स्थण्डिल जावें तो अपने साथ तीन साधुओ के काम मे आवे उतना जल ले जावें। दोनो को समश्रेणी मे कभी नही बैठना चाहिये। इस प्रकरण को और अधिक विस्तार से जानने के लिये ओघनियुक्ति एव वृहत्कल्प की टीका देखनी चाहिये।

प्रश्न ९६-साधु शयन करते समय परस्पर कितना अन्तर रखे एव पात्रो से कितनी दूर शयन करें ?

उत्तर— उत्सर्ग मार्ग से साधुओ को परस्पर दो हाथ के अन्तर

से शयन करना चाहिये अन्यथा अनेक दोषों की सम्भावना रहती है। तथा मूषकादि निवारणार्थ पात्रों से २० अंगुल दूर शयन करना उचित है। इस विषय का विस्तार ओधनियुंक्ति में हैं।

प्रश्न ९७—मार्ग में चलते हुए साधुओं को मार्ग किससे पूछना चाहिये ?

उत्तर-- साधुओं को चाहिये कि वे मार्ग में चलते हुए हो तो बाल-वृद्ध स्त्री एवं नपुंसक से मार्ग न पूछे, किन्तु मध्यम वयस्क दो पुरुषों से पूछे, वे दो पुरुष भी जहां तक हो साधर्मिक एवं गृहस्थ होने चाहिये। इनके अभाव में अन्यधर्मावलम्बी पुरुषों से धर्म-लाभ पूर्वक प्रेम से पूछे। वृद्धादि से पूछने पर जो दोष है, वे इस प्रकार हैं-- वृद्ध से पूछने पर वह मार्ग नहीं जानता है, बालक से पूछने पर वह हास्यादि प्रपंच करता है अथवा मार्ग नही जानता है, नपुंसक एवं स्त्री से पूछने पर दूसरों को शंका होती है। ऐसी स्थिति में किस प्रकार पूछना चाहियें। इस सम्बन्ध में कहा है कि--

पासट्ठिओ पुच्छिज्जा वंदमाणं अवंदमाणं वा।
अणुवइउण व पुच्छेज्जा तुण्हिक्कं नेव पुच्छिज्जा ॥

—पास में रहा हुआ कोई मनुष्य वन्दन करता हो तो उससे पूछे अथवा वन्दन न करके पास से होता हुआ कोई जाता हो तो उसके पीछे कुछ चलकर फिर पूछना चाहिये। यदि पूछने पर भी वह न बोलकर चुपचाप चला जावे तो नहीं पूछना चाहिए।

यदि ऊपर बताये हुए नियमो के अनुसार उसी प्रकार के कोई मनुष्य न मिले तो अच्छी स्मृति रखने वाले वृद्धादि से भी यतना पूर्वक पूछा जा सकता है। विशेप –ओघनिर्युक्ति मे इसका उल्लेख है ।

प्रश्न ६८—ग्लान (रुग्ण) साधु की सेवा करने मे जिस प्रकार प्रशसा यश आदि ऐहिक गुणो का लाभ होता है, उसी प्रकार क्या पारलौकिक गुण भी होते हैं ?

उत्तर— ऐसे सेवा कार्य मे पारलौकिक गुण है ही। आगम मे इस प्रकार की सेवा को तीर्थ कर की भक्ति के समान कहा है और तीर्थंकर की भक्ति का फल स्वर्ग एव अपवर्ग की प्राप्ति है । ओघनिर्युक्ति की टीका मे कहा है कि–

"गिलाणत्ति"–साधु कदाचित् तत्र ग्रामे प्रविष्ट इद श्रृणुयाद् यद् अत्र ग्लान आस्ते, ततश्च तत्परिपालन कार्य परिपालने च कथ न पारलौकिक गुणा इति ।"

—किसी समय साधु ग्राम प्रवेश करे, और यह सुने कि यहा कोई साधु ग्लान (रुग्ण) है, तो उसकी सेवा करनी चाहिये। सेवा करने मे पारलौकिक गुण कैसे नहीं होते ? वे तो होते ही है।

"जो गिलाण पडियरइ सो म पडियरइ, जो म पडियरइ सो गिलाण पडियरइ "त्ति" वचन प्रामाण्यात्

—जो ग्लान (रुग्ण) की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है और जो मेरी सेवा करता है वह रुग्ण की सेवा करता

है। इस वचन की प्रमाणिकता से भगवान की आज्ञा है। जो वृहत्कल्प वृत्ति के प्रथमखण्ड में इस प्रकार है:-

"जो गिलाणं पडियरइ से ममं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ इत्यादि भगवदाज्ञा ऽऽराधनात् ॥

—जो रुग्ण की सेवा करता है वह मेरी ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से आराधना करता है।

इस प्रकार भगवान की दी हुई आज्ञा का आराधन करना चाहिये।

प्रश्न ९९—शुद्ध संयमी साधु ग्लान (रुग्ण) पार्श्वस्थादि की प्रतिचर्या (सेवा) करे कि नहीं ?

उत्तर— लोकापवाद के निवारण के लिये एवं पार्श्वस्थादि को सन्मार्ग पर लाने के लिये परिचर्यादि स्वोचित कर्म अवश्य करना चाहिये। इसके सम्बन्ध में ओघनिर्युक्ति में कहा है कि—

"एसगमो पंचण्ह वि नियाईणं गिलाणपडियरणे।
फासुअकरणनिकायण कहण पडिक्काभणागमणं॥२२॥

संभावणे विसद्दो देउलियखरंटजयणा उवएसो।
अविसेसे निन्हगाण विन एस अरूहंतओ गमणं॥२३॥

तारेहि जयणाकरणं अमुगं आणेहऽकप्पजणपुरओ।
नवि एरिसिया समणा जणणाए तो अवक्कमणं॥

इन गाथाओं का संक्षेप में अर्थ इस प्रकार है:—

'नियार्डण त्ति" आदि शब्द से पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील एव समक्त इनको भी ग्रहण करना चाहिये।)

—नित्यवासी आदि इन पाँचो की भी ग्लान परिचर्या मे जो विधि है वह इस प्रकार है —

शुद्ध आहारादि मे सेवा करनी चाहिये तथा बाद मे उन्हे यह कहना चाहिये कि स्वस्थ होने के पश्चात् जैसा मैं कहू वैसा करना। इसके साथ ही उनसे धर्म कथा कहना, यदि वे उस स्थान से चलना चाहे तो उनको पकड कर चलना। (गाथा मे अपि शब्द सम्भावना के अर्थ मे है) इसके अतिरिक्त देव मन्दिर की रक्षा करने वाले वेषधारी यदि रुग्ण हो तो उनकी भी सेवा करनी चाहिये। उन्हे वस्त्र देना, धर्म के लिये उद्यम करो, ऐसा कहना। यह सब यतना पूर्वक करे, जिससे सयम को लाछन न लगने पावे। तथा उनको क्रिया विषयक उपदेश दे दे। इसी प्रकार जिस देश मे साधु एव निह्नवक का भेद न जाना जाता हो, उस देश मे निह्नवकको की भी यतनापूर्वक सेवा करना चाहिये। यदि रुग्ण यो कहे कि यह हमारे पक्ष का नही है तो वहाँ से चला जाना चाहिये और यदि वह यह कहे कि मुझे इस रुग्णता से तारो तो यतनापूर्वक सेवा करना, अमुक वस्तु लाओ, ऐसा कहे तो जनता के सामने यह कहना कि यह वस्तु अकल्प्य है, साधु ऐसे नही होते हैं। जनता यदि साधु और निह्नवक का भेद जान जाय तो वहा से चले जाना ही चाहिये।

इस प्रकार उपदेश माला मे भी पार्श्वस्थादि की सेवा करने के सम्बन्ध मे कहा है। उपदेश माला मे तो यह भी कहा है कि यदि विपत्तिग्रस्त कोई श्रावक हो तो उसकी सेवा करनी चाहिये। इस आशय की दो गाथाए इस प्रकार है।

"हीणस्स वि सुद्धपरूवगस्स नाणाहियस्स कायव्वं ।
जणचित्तग्गहणत्थं करेंति लिंगावसेसेऽवि ॥३४६॥
ओसन्नस्स गिहिस्स व जिणपवयण तिव्वभावियमइस्स।
कीरइ जं अणवज्जं दढसंमत्तस्सऽवत्थासु ॥३५०॥

—भाव चारित्र रहित शुद्ध प्ररूपणा करने वाले ज्ञान गुण से अधिक हो तो उनकी और जिनके पास केवल वेप हो तो उनकी भी सेवा करनी चाहिये तथा जो जिन प्रवचन से तीव्र भावित मति वाला अवसन्न हो या दृढ़ सम्यक्त्वी गृहस्थ हो तो उसकी रुग्णावस्था में दोपरहित होकर सेवा करना चाहिये ।

प्रश्न १००—ग्लान (रुग्ण) एवं उनकी सेवा करने साधु वाले दूसरे साधुओं की भोजनादि मण्डली में प्रवेश करें या नहीं ?

उत्तर— ग्लान (रुग्ण) साधु एवं उनकी सेवा करने वाले साधु प्रायश्चित लेकर उनको पूरा करने के पश्चात् दूसरे साधुओं की मंडली में प्रवेश कर सकते है। ग्लान साधु को दश उपवास एवं परिचारक साधु को दो उपवास का प्रायश्चित आता है। मतान्तर से दोनों को दश उपवास का प्रायश्चित भी है। इस प्रकार के प्रायश्चित्त पूरे करने के पश्चात् दोनों साधु दूसरे साधुओं की भोजन मण्डली में प्रवेश करे। वृहत्कल्प की टीका में इसी आशय को इस प्रकार व्यक्त किया गया है:—

"ग्लाने प्रगुणीभूते सति ग्लानस्य पंच कल्याणकं प्रायश्चित्तं प्रतिचारकानां तु एककल्याणकं देयम् ।

आदेशान्तरेण वा द्वयोरपि पचकल्याणकं मन्तव्य, ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते द्वावपि ग्लान प्रतिचारक वर्गो भोजनादि मण्डलीं प्रविशत इत्यादि ।"

इन पंक्तियो का अर्थ ऊपर दे दिया गया है।

प्रश्न १०१–वर्षाकाल (चातुर्मास) के अतिरिक्त शेष आठ मास के ऋतु वद्धकाल मे साधु एव पौषध व्रती श्रावक पाट पीठ फलक आदि ग्रहण करे कि नही ?

उत्तर— उत्सर्ग से तो ग्रहण नही करना चाहिये। ये ग्रहण करे तो वे अवसन्न (शिथिलाचारी) कहलाते है। जिसके सम्बन्ध मे ज्ञाता अध्ययन मे दिये गये शेलक के दृष्टान्त मे कहा है कि—

"तएण से सेलए उउबद्धपीठफलग सेज्जा संथारए ओसन्ने जाए त्ति।"

—इसके पश्चात वे शैलक मुनि शेषकाल मे शय्या सथारा के लिये पाट पाटलादि का सेवन करने मे अवसन्न हो गये।

इसी प्रकार आवश्यक निर्युक्ति मे भी कहा है कि—

"ओसन्नो विय दुविहो सव्वे देसे य तत्थ सव्वम्मि ।
उउबद्ध पीठ फलगो ठवियग भोई य नायव्वो ।।"

—अवसन्ना के दो भेद होते है १ सर्व २ एक देश इनमे सर्व मे अवसन्न, शेषकाल मे पाट पाटलादि का उपयोग करते हैं तथा स्थापना य भोजन भी करते हैं।

अपवाद मार्ग से शेषकाल में भी पाट पाटलादि के सेवन करने के सम्बन्ध में आगम में कहा है कि—

"जह कारणे तणाई उउबद्धम्मि य हवन्ति गहियाइं।
तह फलगाणि वि गिण्हइ चिक्खिल्लाईहि कज्जेहिं॥"

जिस प्रकार देशादि लक्षण कारण उपस्थित होने पर ऋतु-बद्धकाल में घास आदि ग्रहण किया जाता है, वैसे ही शेषकाल में कादव आदि (जीवोत्पत्ति, वनस्पति) कारण उपस्थित होने पर पाट पाटलादि ग्रहण किये जा सकते है।

प्रश्न १०२—मार्ग में वृक्षादि के नीचे विश्राम करने की इच्छा वाले साधु वहाँ किसकी आज्ञा से विश्राम करे?

उत्तर— "अणुजाणह जसुग्गहो" (जिसका अवग्रह है वह आज्ञा देवे!) 'ऐसा कह कर साधु वृक्षादि से आज्ञा लेकर वहां विश्राम कर सकता है। आवश्यक सूत्र की टीका में इस प्रकार कहा है, जिसका संक्षेप में पाठ इस प्रकार है।

"साधूनाम् इयं समाचारी सर्वत्रैव अध्वादिषु वृक्षाद्यपि अनुज्ञाप्य स्थातव्यम्, तृतीयव्रत रक्षणार्थम्, एवं भिक्षाटनादावपि व्याघात सम्भवे क्वचित् स्थातुकामेन स्वामिनं तद् अभावे तदवग्रह देवतां वा अनुज्ञाप्य स्थेयम्॥"

—साधुओं की यह समाचारी है कि—सर्वत्र मार्गादि में तृतीय व्रत की रक्षा के लिये वृक्षादि की आज्ञा लेकर ठहरना। इसी प्रकार गोचरी आदि लेने जाते समय यदि मार्ग में कोई व्याघात हो जाय तो किसी भी स्थान पर खड़े रहने के लिये

उस स्थान के स्वामी की अथवा उसके अभाव मे अवग्रहदेव की आज्ञा लेकर पुन ठहरना चाहिये ।

प्रश्न १०३—साध्वियो के उपाश्रय मे रात्रि के समय कोई चोर आदि प्रवेश करे तो उन्हे क्या बोलना चाहिये ?

उत्तर— साध्वियो के उपाश्रम मे रात्रि के समय यदि कोई चोर आदि प्रवेश करे तो द्वारस्थ साध्वी को "कौन है ?" ऐसा नही बोलना चाहिये । ऐसा बोलने से पडोस मे रहने वाले मनुष्यो को शकादि हो जाती है । अत "छु छु वाहड वाहड" इस प्रकार बोलना चाहिये । अथवा हे अनाथ ! क्या तेरे माता पिता नही है–जिससे तू इस समय घूमता है ? और इस अन्योक्ति मे उसको कहना चाहिये कि—हे दुष्ट बैल यहा हमारे उपाश्रय मे क्यो घुस आया है, अरे अभागे ! यहा तेरे योग्य कोई स्थान नही है, भाग जा ! यहा क्या खावेगा ?

ऐसा बृहत्कल्प की टीका मे कहा है ।

प्रश्न १०४—यदि कोई साधु परलोक गमन करे तो कौनसी विधि करनी चाहिये ?

उत्तर— इसका उत्तर बृहत्कल्प भाष्यादि में जो दिया गया है, वह सक्षेप मे इस प्रकार है ।

"जं वेल कालगयो निक्कारणे कारणे भवे निरूहो "
जग्गण बंधण छेयणे एत्त तु निंहि तहि कुज्जा ॥ १ ॥

—रात्रि मे या दिन मे जब भी साधु स्वर्गवासी हो, उसी

समय बाहर ले आना चाहिये। किसी वैयावच्चकर साधु को चाहिये कि वह मृतक को उठाकर एकान्त में शुद्ध भूमि पर परिष्ठापित कर देवे। यदि एक से मृतक न उठे तो अनेक मुनि मिलकर उठा सकते है। यह विधि निष्कारण रूप में कही गई है। कारण विशेष होने पर तो कितने भी समय तक मृतक को रखा जा सकता है। वहां जागरण, वन्धन, छेदन आदि विधि शास्त्र प्रमाण से करना चाहिये।

मृतक को किन-किन कारणों से रखा जा सकता है, ? इस सम्बन्ध में कहा है कि—

"हिम-तेण-सावयभयापिहिता दारा महाणिणादो वा।
ठवणा णियगा व तहिं आयरिय महा तवस्सी वा २॥

—रात्रि में असह्य हिमपात होता हो, चोर तथा हिंसक जीवों का भय हो, बाहर निकलने जैसी स्थिति न हो, नगर द्वार उस समय बन्द हों, महान् निनाद (भयंकर) गर्जना होती हो, महाजनों को ज्ञात हो गया हो, तो उस मृतक को ग्राम या नगर में ही रखना चाहिये। इसी प्रकार ग्रामादिक में रात्रि में मृतक को निकालने की व्यवस्था न हो अथवा उस ग्राम या नगर में मृतक के सम्बन्धी या ज्ञातिजन हों और कहे कि हमसे पूछे बिना मृतक को नहीं निकालना, या वह उस नगर में अतीव प्रसिद्ध आचार्य हो, महातपस्वी हो, चिरकाल से अनशन करने वाला हो, मास क्षमण किया हो, इन कारणों से रात्रि में मृतक को वही रखा जा सकता है। इसी प्रकार मृतक को आच्छादित करने के लिये उज्ज्वल वस्त्र न हों अथवा राजादि नगर में प्रवेश करते हो या निकलते हो तो दिन में भी न निकालो द्वार वन्द होने की

सम्भावना हो तो रात्रि मे मृतक को नही निकालना चाहिये ।

मृतक के शीषद्वार के सम्बन्ध मे कहा है कि—

"जत्तो दिसाई गामो तत्तो सीस तु होइ कायव्व ।
उट्ठंतरक्खणट्ठा अमगल लोग गरहा य ॥"

—जिस दिशा मे गाव हो उस दिशा मे मृतक का मस्तक उपाश्रय से ले जाते समय या परिष्ठापन करते समय करना चाहिये । जिससे यदि कदाचित् मृतक उठ जाय तो उपाश्रय की ओर न आ सके । इसी प्रकार जिस दिशा मे गाव हो उस ओर मृतक के पाव करने से अमगल होता है एव लोक निन्दा भी होती है कि ये साधु इतना भी नही जानते हैं कि गाव के सामने मृतक को नही किया जाता है ।

परिष्ठापन करते समय रजोहरण (ओघा) मुखवस्त्रिका (मु हपत्ती) चोलपट्टक (अधोवस्त्र) आदि उपकरण मृतक के के पास रखना । यदि ये उपकरण न रखे जावें तो चतुर्गु रु प्रायश्चित एव आज्ञा भग का दोष आता है । तथा मृतक मिथ्यात्व भाव को प्राप्त करता है अर्थात् मृतक देवलोक जाने पर अवधिज्ञान का उपयोग छोडने के पश्चात् उपकरणो को न देखे तो यह यह जानता है कि गृहस्थलिंग से ही मैं देव हुआ हू । इस प्रकार वह मिथ्यात्व को प्राप्त करता है । अथवा राजा लोग परम्परा से इसको जानकर, कि कोई मनुष्य लोगो के द्वारा उपद्रवित हुआ है, इस बुद्धि से कुपित होकर समीप के दो तीन गावो मे प्रति बन्ध लगादे । इस मृतक के पास उपकरणादि अवश्य रखने चाहिये ।

अब काउस्सग्ग द्वार के सम्बन्ध मे कहा जाता है —

चेइ अघरुवस्सए वा हायतिओवुड्डि तो जिते ।
मागरण बपहीए कुणेइ मन्न नमः पाओ ॥ १ ॥

पश्चात् उपाश्रम या देशभर में आकर हीयमाना स्तुति बोलना चाहिये। इसके पूर्व परिष्ठापक करने वाला जहाँ तक पुनः न आवे वहाँ तक वसतिपाल वसति का प्रमार्जन आदि समस्त कार्य करे।

इस सम्बन्ध में चूर्णिका विशेष पाठ इस प्रकार है :—

"ततो आगम्म चेइयघरं गच्छंति चेइयाणि वंदित्ता, संति निमित्त' अजियसंति त्थवो परिकड्डिज्जइ तिन्नि थुईओ परिहायंतीओ कड्ढिजंति तओ आगंतु अविहिपरिट्ठावणि याए काउसग्गो कीरइ त्ति॥"

—वहाँ से आकर देरासर में जावे और चैत्यवन्दन कर शान्ति के लिये अजितशान्ति स्तव बोले तथा 'परिहायंती' तीन स्तुति करे। इसके पश्चात् आकर "अवधि-परिट्ठावणियाए" का काऊसग्ग करे।

इस प्रकार व्यवहार दृष्टि से मृतक की गति जाननी चाहिये।

"थलकरणे वेमाणिओ जोइसिओवाण मंतरो समम्मि।
गड्डाइ भवणवासी एस गती से समासेण॥"

जब मृतक के शरीर को ऊंचे स्थल पर रखे व शिविका (पालखी) में पारिष्ठापित्त करे तो उस समय वह वैमानिक हो गया है, ऐसा मानना चाहिये। समभूमि पर हो, तो ज्योतिष्क अथवा व्यन्तर में वह उत्पन्न हुआ है, ऐसा जानना। गर्त (गड्डे) में स्थापित किया हो तो भवनवासियों में गया है ऐसा जानना चाहिए। मृतक की इस प्रकार की गति का विवेचन संक्षेप में यहां किया गया है।

प्रश्न १०५-विहार आदि करने की इच्छा वाले आचार्यादि को चन्द्र वल-तारा वल आदि निमित्त देखना चाहिये या नही ?

उत्तर— विहारादि करने की इच्छा वाले आचार्यादि को प्राय करके चन्द्र वल-तारावल देखना चाहिये । बृहत्कल्प वृत्ति के द्वितीय खण्ड मे कहा है कि–अणुकुलेत्यादि" आचार्यों को जब चन्द्र वल-तारावल अनुकूल हो तव विहार (प्रस्थान) करना चाहिये । उपाश्रय से निकलने के बाद जवतक सार्थ का साथ न हो तव तक स्वय ही शकुन ग्रहण करे, सार्थका साथ होने पर उसके शकुन से प्रमाण करना चाहिये ।

इस गणिविज्जापइन्नग सूत्र मे भी शुभ निमित्तादि लेना कहा हे ।

प्रश्न १०६-जिनकल्प शब्द मे जिन पद से तीर्थंकर एव सामान्य केवली लेना चाहिये या अन्य कोई । और जिनकल्पी साधु उसी भव मे मोक्ष जाते है या नही ? यदि नही जाते हे तो किस कारण से ?

उत्तर—यहा जिन शब्द से तीर्थंकर एव सामान्य केवली नही लेना क्योकि ये स्थविरकल्पिक एव जिनकल्पिक से भिन्न होने के कारण कल्पातीत कहे जाते है किन्तु गच्छ मे से निकले हुए साधु विशेष लेना चाहिये । जैसा कि प्रवचनसारोद्धार की टीका के ६३ वे द्वार मे कहा हे कि—

"जिनाः गच्छनिर्गतसाधु विशेषाःतेषा कल्पः समाचार स्तेन चरन्तीति जिनकल्पिका इत्यादि ।'

—जिन अर्थात् गच्छ में से निकले हुए साधु विशेष, उनका कल्प अर्थात् आचार उसका जो पालन करें वे जिन कल्पिक होते हैं।

ये जिन कल्पिक मुनि उस भव में मोक्ष मे नहीं जाते हैं। क्योंकि आगम में इनके लिये केवल ज्ञान का निषेध किया हुआ है। वृहत्कल्प वृत्ति में कहा है कि वेद को अङ्गीकार कर जिनकल्प ग्रहण करते समय स्त्रीवेद को छोड़कर असंक्लिप्ट पुरुपवेद या नपुंसक वेद उसको होता है। जिनकल्प स्वीकार किया हुआ मुनि सवेदी भी होता है एवं अवेदी भी। ऐसी स्थिति में जिनकल्पिक मुनि को उस भव में केवल ज्ञान की उत्पत्ति का निपेध है। उपशमश्रेणी में वेद के उपशमित होने पर ही अवेदकत्व प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है--

"उवसम सेढीए खलु वेदे उवसामियम्मि उ अवेदो।
नवि खलिए तज्जम्मे केवल पडिसेह भावाओ॥"

—उपशम श्रेणी में वेद के उपशमित होने के बाद ही अवदेकत्व प्राप्त होता है, परन्तु वेद के उपशमिन होने के कारण उस भव में केवल ज्ञान का निषेध है।

उपशमश्रेणी के अतिरिक्त शेषकाल में तो सवेदी होता है।

इस विषय में कतिपय आधुनिक जन ऐसा कहते है कि जिनकल्पित साधुओं का आचार हठगर्भित होता है, क्योंकि ये साधु सिह आदि को सम्मुख आता हुआ देख कर उसी मार्ग से जाते है, दूसरे मार्ग से नही। इसलिये उस भव में उनकी मुक्ति नहीं होती। ऐसा इनका कहना युक्तिसंगत नही है

क्योंकि वे तो भगवान के कहे हुए निरपवाद अनुष्ठान के करने वाले हैं, उनका इसमें तनिक भी हठवाद नहीं है। उनकी आचार विषयक भगवान की आज्ञा में सर्वथा हठवाद का अभाव है। इसके सम्बन्ध में श्री आचाराङ्ग सूत्र के छठे अध्ययन के तृतीय उद्देशय में जिनकल्पिक एवं स्थविरकल्पिकादि समस्त मुनियों को जिनाज्ञा के अनुसरण करने वाले एवं सम्यग् दर्शनी कहा है। कहा है कि—

"जिन कल्पिकः कश्चिदेकल्पधारी द्वौ त्रीन् वा बिभर्त्ति स्थविर कल्पिको वा मासार्धमासक्षपकः स्तथा विकृष्ट-ऽविकृष्टतपश्चारी प्रत्यहभोजी कूरगडु को वा एते सर्वेऽपि तीर्थकृद्वचनानुसारतः परस्पराऽनिन्दया सम्यक्त्व दर्शिनः ॥"

—जिनकल्पिक कोई एक वस्त्र धारण करता है, कोई दो या तीन वस्त्र धारण करता है, एवं स्थविर कल्पी कोई मास क्षमण या अर्धमासक्षमण, कोई विकृष्ट तीन, चार या पाच उपवास, कोई अविकृष्ट उपवास करता हैं अथवा कूरगडु के समान नित्य भोजन करता है। ये सभी साधु तीर्थकरों के वचनानुसार ही परस्पर अनिन्दा के भाव से सम्यग् दर्शी होते हैं।

इस सम्बन्ध में और भी कहा है कि—

"जो वी दुवत्थ तिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ।
न हु ते हीलंति परं सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥"

—जो कोई भी साधु दो तीन एक वस्त्र धारण कर

अथवा वस्त्र रहित होकर अपने आचार का पालन करते हैं। एवं परस्पर किसी को निन्दा नही करते है तो वे सभी साधु जिनाज्ञा के पालन करने वाले है, ऐसा मानना चाहिये।

इसी प्रकार जिनकल्पिक या प्रतिमाधारी कोई साधु अपने कल्प (आचार) के अनुसार छ मास तक भी भिक्षा प्राप्त न कर सके तो भी वह कुरगडुक को भी "तू ओदनमुण्ड है?" ऐसा कहकर उसकी निन्दा न करे।

स्थविरकल्पिक मुनियों को तीन वस्त्र अवश्य ग्रहण करने चाहिये। चाहे वे एक वस्त्र से शीत परीषह सहन करने में समर्थ हो तो भी तीन ग्रहण करना यह भागवती आज्ञा है।

अन्य कुछ यह कहते है कि जिनकल्पिक उत्कृष्ट क्रिया करते है, इससे उनको उत्कृष्ट पुण्य संचय की प्राप्ति होती है, वह पुण्य सचय विशिष्ट स्वर्गादि सुखों का उपभोग किये बिना क्षय नही होता है वास्तविक तत्व तो भगवान् केवली ही जाने।

प्रश्न १०७-अर्णिका पुत्र आचार्य ने अपनी शिष्या साध्वी को केवल ज्ञान की उत्पत्ति जानने के वाद, वन्दन किया कि नही?

उत्तर—साध्वी को केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया है। ऐसा जानने के वाद आचार्य अर्णिका पुत्र ने साध्वी को वन्दन किया हो ऐसा नही मालूम होता है। क्योंकि आवश्यक सूत्र की वृहत् टीका में "खामिओ केवलि आसाइओ त्ति" ऐसा खमाने का ही पाठ है।

पाठांश इस प्रकार है.—

"जाणामि कह अतिसएण केण केवलेण सामिओ केवलिआसाइओत्ति,"

छद्मस्थ गुरु के द्वारा केवलज्ञानवती साध्वी वन्दनीय नही है।

प्रश्न १०८—जिस प्रकार कई साधु गाव से बाहर लम्बी भुजाए कर, कई भुजाए एव एक पाँव ऊंचा कर आतापना करते हे, उसी प्रकार साध्विया भी कर सकती है या नही ?

उत्तर-- साध्विया इस प्रकार नही कर सकती हैं। वृहत्कल्प मे "नोकप्पईत्यादि" इस पाठ के द्वारा निषेध करते हुए उनके लिए आतापना की लेने की विधि इस प्रकार कही है कि—

"आर्याया ग्रामाद् बहिरूर्ध्वं मुखोबाहू कृत्वा एक पाद-मूर्ध्वमाकुञ्च्य आतापना भूमौ आतापयितुं न कल्पते किन्तु उपाश्रय मध्ये सघाटी प्रतिबद्धायाः प्रलम्बबाहायाः समतल पादिकायाः स्थित्वा आतापयितु कल्पते, यदबाड् मुख निपत्य आतापना क्रियते सा उत्कृष्टोत्कृष्टा इत्यादि, ।"

—साध्वियाँ गाव से बाहर दोनो भुजाए ऊची करके एक पाव ऊँचा सकुचित कर आतापना भूमि पर आतापना नही ले सकती है, किन्तु अपने ओढने के वस्त्र के अन्दर भुजाए लम्बी करके दोनो पावो को समान रखकर आतापना ले सकती है।

प्रश्न १०९—पाच आश्रवो से रुकना इत्यादि सयम के १७ प्रकार के भेद तो प्रसिद्ध हैं, परन्तु प्रकारान्तर से

भी मनु संयम एवं असंयमके १७ भेद शास्त्रों में सुने जाते हैं। उनको किस प्रकार जानना चाहिये ?

उत्तर— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिइन्द्रिय,, पंचेन्द्रिय; इन नौ प्रकार के जीवो में यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना अर्थात् इनकी सुरक्षामें विवेक के साथ काम करना ये नौ प्रकार का संयम कहलाता है। तथा अजीवसंयम, प्रेक्षासंयम, उपेक्षा-संयम परिष्ठापना संयम. प्रमार्जना संयम, तथा मनवचन काया के योग को शुभ कर्म में प्रवृत करना एवं अशुभ कर्मो से रोकना ये तीन प्रकार का मनोवाक्काय (मनवचन काया का) संयम इस प्रकार कुल सतरह प्रकार का संयम एवं इससे विपरीत असंयम होता है।

अजीव सयमादि पांच संयमों का अर्थ ओघनिर्युक्ति आदि सूत्रों से जानना चाहिये। इस सम्बन्ध में इस प्रकार पाठ है :—

"पुढवि दग अगणि मारुअ वणस्सई वेइंदिय तेइन्द्रिय चउरिंदिय पंचेंदिया।"

"तथा अजीवत्ति" अजीवों में फूलण शीत आदि लगी हुई पुस्तकादि ग्रहण करने से असंयम होता है इससे इसका ग्रहण नही करना ! आदि शब्द से पांच प्रकार के वस्त्र पांच प्रकार के घास पांच प्रकार का चर्म इनको ग्रहण करने से असंयम एवं ग्रहण नही करने से संयम होता है।

इस प्रकार अजीव संयम का अर्थ जानना चाहिये। शेष

प्रेक्षासयम, उपेक्षासयम, परिष्ठापनासयम एव प्रमार्जना सयम के अर्थ क्रमश इस प्रकार है —

प्रेक्षासयम—प्रथम चक्षु से भूमि को देख कर पश्चात् का उसग्ग शयन आदि करना।

उपेक्षा सयम—उपेक्षा दो प्रकार की होती हे, १ सयम-व्यापार उपेक्षा, २ गृहस्थ व्यापार उपेक्षा।

सयम मे प्रमाद करते हुए मुनिको देखकर उसको सयम-व्यापार मे प्रेरणा देना यह सयम व्यापार उपेक्षा, एव सावद्य कार्य करते हुए गृहस्थ को देखकर प्रेरित न करना गृहस्थ व्यापारोपेक्षा होती है।

परिष्ठापना सयम—आवश्यकता से अधिक वस्त्र भात जल आदि का विधि पूर्वक त्याग करने (परिष्ठापन करते) समय सयम रखना। अर्थात् त्याज्य पदार्थो को विधि पूर्वक निर्जीव स्थान पर डालना।

प्रमार्जनासयम—"सागारिय पमज्जणसजमो–" गृहस्थो के देखते हुए उनके सामने रजोहरण से प्रमार्जन नही करना। यही सयम है। "मेमेपमज्जणयत्ति"–गृहस्थो के अभाव मे विधिपूर्वक विवेक से प्रमार्जन (पडिलेहण) करना।

मन सयम—दुष्टपरिणामो, असद् विचारो एव व्यर्थ कल्पनाओ को त्याग कर पवित्र, उन्नत एव शुभ परिणाम रखना।

वचनसयम—अपवित्र, असत्य, अहितकर एव अप्रियवचन न कहना।

कायसयम—दुष्ट चेष्टाओ, व्यर्थ चेष्टाओ एव विवेकशून्य क्रियाओ का न करना।

इस प्रकार ये सत्तरह संयम है।

श्री समवायाङ्गवृत्ति में इनका यह विशेष अर्थ इसप्रकार दिया गया है। यथा—

अजीव संयम--विकट सुवर्ण, वहुमूल्य वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि ग्रहण करना अजीवकाय असंयम कहलाता है एवं ग्रहण नही करना अजीव संयम होता है।

उपेक्षा संयम--असंयम योगों में प्रवृत्त होना एवं संयम योगों में अप्रवृत्त होना यह उपेक्षा असंयम एवं इसके विपरीत अर्थात् असंयम योगों में प्रवृत्त न होना एवं संयम योगों में प्रवृत्त न होना एवं संयम योगों में प्रवृत्त होना उपेक्षासंयम है।

प्रमार्जनसंयम—पात्रादिका प्रमार्जन न करना. अथवा अविधि से करना यह प्रमार्जना असंयम एवं इसके विपरीत विधि सहित पात्रादिका प्रमार्जन करना--प्रमार्जन संयम होता है।

पहिले जो यह कहा है कि--अग्राहयं "दूसंपणमित्यादि" इसका अर्थ यह है कि-जिनमें रुई भरी हुई हो ऐसे पांच प्रकार के वस्त्रों का प्रतिलेखन नहीं किया जा सकता। क्योंकि उनके अन्दर का भाग आंखों से नहीं दीखता।

पांच प्रकार के वस्त्रों की विवेचना इस प्रकार है :--

"कुंचिकादिकं दुष्प्रतिलेखित दूष्य पंचकम्-तथाहि, कुञ्चिका, पूरिका, प्राचार, दाढिकालि, जयनानि।"

—कुञ्चिका, पूरिका, प्राचार, दाढिकालि-एवं जयनानि ये पांच प्रकार के दुष्प्रतिलेखित वस्त्र हैं। कुञ्चिकादि के लक्षण ये हैं :—

कुब्धिचका--रूई से भरा हुआ वस्त्र ।

पूरिका--मोटे सन के डोरो से बना हुआ वस्त्र ।

प्राचार--दो तार मिला कर बनाया गया वस्त्र बडा कम्बल आदि ।

दाढिकालि-जुडे हुए दो सूत का बना हुआ वस्त्र इसको विरलिका भी कहते है, जो ऊन व सूत की भी होती है ।

जयनाति--जीन इस नाम से प्रसिद्ध वस्त्र ।

यह उल्लेख बृहत्कल्प मे किया गया ह ।

इसी प्रकार शुपिरतृणादि (फूलण वाला घास) एव रोम युक्त चर्म भी अग्राह्य है ।

प्रश्न ११०--कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त, क्षेत्रातिक्रान्त, एव प्रमाणातिक्रान्त आहार आदि मुनियो को कल्पता नही है, परन्तु इन चारो अतिक्रान्तो का क्या अर्थ है ।

उत्तर-- तीन पहर से ऊपर रखा हुआ आहारादि कालातिक्रान्त होता है, अर्धयोजन से अधिक दूर आहारादि लेजाना या लाना अध्वातिक्रान्त होता है, साधुओ के लिये यह अपरिभोग्य है (इसमे साधुओ को विवेक से काम लेना चाहिये ।) जीतकल्पवृत्ति मे क्षेत्रातिक्रान्त की परिभाषा देते हुए कहा है कि--

"क्षेत्र सूर्यसम्बन्धितापक्षेत्र दिनमित्यर्थ तदतिक्रान्त यत् यत् क्षेत्रातिक्रान्तम् "

सूर्य सम्बन्धी तापक्षेत्र दिन ही क्षेत्र है, उसमे जो अतिक्रान्त है वह क्षेत्रअतिक्रान्त है ।

इसी प्रकार किसी से भी ग्रहण नहीं की गई, अन्य प्रकार का किराया देकर रखी हुई वेश्या को जिसका पति परदेश गया हो उस (प्रोपितभर्तृका)को, स्वैरिणी (स्वेच्छा से विचरण करने वाली को, कुलाङ्गना या अनाथ स्त्री को सेवन करने पर दूसरा अतिचार होता है। यह अनुपयोग से या अति-क्रमादिको लेकर अतिचार है। अतिक्रमादि का अर्थ ऊपर कह दिया गया है। वह अर्थ यहां मैथुनादि से आश्रित कर ग्रहण करना चाहिये। यहां इसका यह परमार्थ है कि जब तक अपने शरीर के साथ उसके शरीर का स्पर्शन करे तब तक अति-चार है।

"तद्वाच्य ग्रदेशे स्याऽवाच्यप्रक्षेपेतु अनाचार एवेति"

ये दो अतिचार स्वदार सन्तोपी के जानने चाहिये, परस्त्री त्याग करने वाले के नही। थोड़े समय के लिये रखी गई स्त्री वेश्या होने से एवं अपरिगृहीता अनाथ होने से इनमे परदारत्व का अभाव है। शेप तीन अतिचार तो दोनों को लगते है। यह हरिभद्रसूरि का मत है, यही सूत्रानुसारी भी है। कहा भी है कि--

"सदार सन्तोसस्स इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समाअरियव्वा ॥"

--स्वदार सन्तोषी को ये पांच अतिचार जानने चाहिये, किन्तु इनका आचरण नहीं करना।

दूसरे तो यह कहते है कि-'इत्वरपरिगृहीता यह अतिचार वस्दारसन्तोपी को होता है। पूर्व के अनुसार अपरिगृहीता का सेवन यह अतिचार तो परस्त्री का त्याग करने वाले को होता है, क्योंकि अपरगृहीता अर्थात् वेश्या ने यदि दूसरे किसी से

किराया लिया हो और वह उसके साथ गमन करे तो परदारगमन के दोष की सम्भावना होती है, क्योंकि कथचित् उसमे परस्त्रीत्व है, अत व्रतभग एव वेश्या होने से अभगत्व भी है। इसमे भगाऽभग रूप अतिचार लगता है। यह दूसरा अतिचार है। यह दूसरा मत है।

दूसरे पुन इस प्रकार कहते है —

परदार वज्जिणो पच हुति तिन्नि उ सदारसतुट्ठे ।
इत्थीइ तिन्नि पच व भग विगप्पेहि अइयारा ॥

— थोडे समय के लिये दूसरे के द्वारा किराया देकर रखी गई वेश्या के साथ गमन करने वाले परदार त्यागी का व्रत भग होता है, क्योंकि उसमे कथचित् परदारत्व है, परन्तु लोक मे वह परस्त्री के रूप मे प्रसिद्ध नही है, इसलिये व्रतभग नही भी होता है। इस प्रकार यह भगाभगरूप अतिचार है। तथा अपरिगृहीता, अनाथ या कुलागना के साथ परदारत्यागी गमन करे तो अतिचार लगता है, परन्तु उसकी कल्पना मे तो दूसरे भर्ता या अनाथ होने से यह परस्त्री नही है, इसलिये व्रत का अभग है एव लोक मे तो वह परस्त्री के रूप मे प्रसिद्ध है, इससे व्रत भग है। अत पूर्ववत् यह भगाभगरूप अतिचार है। शेष तीन अतिचार तो दोनो के होते हैं,

स्त्रियों मे तो स्वपुरुषसन्तोष एव परपुरुष के त्याग मे कोई भेद नही होता, क्योंकि उनके लिये तो अपने पुरुष के अतिरिक्त सभी परपुरुष ही हैं। स्वदार सन्तोषी के समान स्त्रियो के भी स्वपुरुष विषयक परविवाह आदि तीन अतिचार होते हैं अथवा पाच अतिचार भी।

ये अतिचार किस प्रकार होते है ? इसका समाधान इस प्रकार है कि---दो आदि के दो अतिचार तो जव अपने पति के वारे के दिन सौतने वारा लिया हो और सौत के वारे को लुप्त कर पति का सेवन करे तो स्त्री को पहिला अतिचार लगता है। तथा स्त्री पति को छोड़ कर अतिक्रमादिक से दूसरे पुरुप के पास जाय अथवा ब्रह्मचारिणी अतिक्रमादि से अपने पति के पास जाय तव दूसरा अतिचार लगता है। शेप तीव्र अतिचार तो स्त्रियों को भी पूर्ववत् लगते है। इसी प्रकार तीव्र कामाभिलापी होने पर कामभोगों में अतृप्तता के कारण तीसरा अतिचार होता है तथा कामक्रीड़ा एवं अनङ्गक्रीड़ा के हेतु श्रावक, अत्यन्त पाप भीरु होने से ब्रह्मचर्य पालने की इच्छा रखने वाला होता हुआ भी जव वेदना उदय की असहिष्णुता के कारण ब्रह्मचर्य का पालन न कर सके तब वेदनी शान्ति के लिये स्वदार सन्तोषादि व्रत ग्रहण करता है, तो उसका यह स्वदार रमण कर्म कामतीव्राभिलाषा एवं अनंगक्रीड़ा के अर्थ से निपिद्ध है, क्योंकि उसके सेवन में किसी प्रकार का गुण नही होता, अपितु राजयक्ष्मादि दोप ही होते है। इस प्रकार निषेध का आचरण करने पर भंग एवं अपने नियम में वाधा न आने से अभग होता है। इस प्रकार भंगाभंग रूप अतिचार जानना। तीव्र कामाभिलाष एवं अनंगक्रीड़ा रूप इन दो अतिचारो का विवेचन दूसरे आचार्य विभिन्न रूप से करते है। यथा-वह स्वदार सन्तोषी विचार करता है कि मैंने तो मैथुन का ही प्रत्याख्यान (पच्चक्खग) किया है, इस प्रकार की अपनी कल्पना से वह वेश्यादि में उसका त्याग करता है, परन्तु आलिगन आदि का नही। कथचित् व्रत की सापेक्षता से ये अतिचार गिने जा सकते हैं। इसी प्रकार 'अपने-अपने पुत्रादिक से भिन्न दूसरों के पुत्र-पुत्री आदि का विवाह करना, कन्यारूपी

फल की इच्छा से अथवा स्नेह सम्बन्ध से परिणयन विधान करना, यह कार्य स्वदार सन्तोषी को अपनी स्त्री एव परदार वर्जक को अपनी स्त्री एव वेश्या के अतिरिक्त दूसरी किसी स्त्री के साथ मन वचन काया से मैथुन नही करना एव नही कराना चाहिये। इस प्रकार जब व्रत ग्रहण किया हो तो पर विवाह करना मैथुन का कारण है। अर्थात यह अर्थ से निषिद्ध ही है। मैथुनव्रतकारी यह मानता है कि-मैं तो यह विवाह ही करा रहा हू मैथुन थोडे ही करा रहा हूँ। इस दृष्टि से व्रत की सापेक्षता होने के कारण यह परविवाह करण अभिचार रूप ही है। कन्याफल की इच्छा तो सम्यग्दृष्टि की अव्युत्पन्न अवस्था मे सम्भव होती है एव मिथ्यादृष्टि की भद्रक अवस्था मे होता है, परन्तु उपकार के लिये व्रतदान मे वह सम्भव है।

शका--पर विवाह के समान अपने पुत्र-पुत्री के विवाह मे भी यह दोष समान ही है?

समाधान--यह सत्य है, परन्तु अपनी कन्या आदि का विवाह यदि न कराया जाय तो वह स्वच्छन्द हो जाती है, जिससे शासन का उपघात होता है। विवाह करने से तो पति के नियन्त्रण में रहने के कारण स्वच्छन्द नही होती है, जैसा कि यादव शिरोमणि, कृष्ण एव चेटक महाराज के अपने पुत्र-पुत्रियो के सम्बन्ध मे भी विवाह का नियम सुना जाता है। यह चिन्ता करने वाले दूसरो के प्रति सद्भाव से जानना चाहिये। इस सम्बन्ध मे योगशास्त्र की टीका में भी उल्लेख किया गया है।

प्रश्न ११३—साधु एव श्रावक जो चतुर्द, षष्ठ, अष्टम आदि तप करते हैं उसके प्रथम एव अन्तिम दिन एकाशन का पच्चक्खाण करने का नियम है या नही?

उत्तर-- तप के आदि अन्त में एकाशन करने का नियम नहीं है, ऐसा जाना जाता है।

चतुर्थ भक्त अर्थात् चार समय खाने का जहाँ त्याग हो वह चतुर्थभक्त कहाता है। यह चतुर्थभक्त शास्त्रोक्त होने से नियम क्यों नही है ? यदि ऐसी शंका है तो सुनो ! चतुर्थभक्त यह तो व्युत्पत्ति मात्र है। जैसे गच्छतीति गौः-जाती है वह गाय, इस व्युत्पत्ति के समान चार बार जो खाया गया वह चतुर्थभक्त, इस प्रकार यह व्युत्पत्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि चतुर्थभक्त यह तो उपवास की सज्ञा है।

श्री भगवती सूत्र की टीका के द्वितीय शतक के अन्तर्गत चतुर्थ उद्देश में कहा है कि--

"चउत्थं चउत्थेणं" चतुर्थ भक्तं यावद् भक्तं त्यज्यते तत्र तत् चतुर्थमियं चोपवासस्य संज्ञा। एवं षष्ठादिकमुपवास द्वयादेरिति "अन्तकृद्दशावृत्तौ अप्युक्तंरत्नावली तपोऽधिकारे, चतुर्थमेकेन उपवासेन षष्ठं द्वाभ्याम्, अष्टमं त्रिभिरिति" किञ्चयदि चतुर्थादेराद्यन्तदिनयो रेकाशनकनियमो भवेत् तर्हि" वासा वासं पज्जोसवियाण छट्ठभत्तियस्स कप्पंति दोगोअरकाला" इत्यादि कल्पसूत्र पाठो विरुध्येत् !

--चार समय जिसमें भोजन का त्याग किया जाय वह चतुर्थ भक्त, चतुर्थ यह उपवास की संज्ञा है इसी प्रकार दो दो उपवास का नाम छठ्ठ, है अन्तकृद्दशा वृत्तिमें भी रत्नावली तप के अधिकार में एक उपवास के लिये चतुर्थ, दो के लिये छट्ट, तीन के लिये अट्ठम कहा है। यदि चतुर्थआदि के प्रथम एवं

अन्तिम दिन मे एकाशन करने का नियम हो तो चातुर्मास मे छट्ठतप वाले साधु को दो वार गोचरी जाना कल्पता है, इत्यादि कल्पसूत्र के पाठ के साथ विरोध आता है क्योकि वहा छट्ठ के पारणे मे दो वार गृहस्थ के घर आहार के निमित्त जाने का कहा है।

प्रश्न ११४--श्रावक रात्रि भोजन का त्याग तो भोगोपभोग परिमाण नामक सप्तम व्रत ही अभक्ष्य के त्याग के साथ कर देता है, फिर श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओ मे जो पाचवी प्रतिमा है, उसमे रात्रि भोजन का त्याग कैसे लिखा है ?

उत्तर-- प्राय पूर्व मे अशन खादिम का त्याग किया था एव पान (पेय पदार्थ) तथा स्वादिम को परतन्त्रता वश खुला रखा था। पाचवी प्रतिमा मे तो इन दोनो के त्याग का भी उल्लेख है। इसलिये ऐसा लिखने मे कोई दोप नही है।

प्रश्न ११५--दैवसिक आदि पच प्रतिक्रमण मे गमा अर्थात् सदृश-पाठ कितने है तथा आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रथो मे समस्त प्रतिक्रमणो की आदि मे दैवसिक प्रतिक्रमण की गणना किसलिये की है ?

उत्तर--दैवसिक आदि पच प्रतिक्रमण मे तीन गमा है। वे इस प्रकार हैं --देव वन्दन करके चार क्षमाश्रमणपूवक आचार्यादि गुरुजनो को वन्दन कर "सव्वस्सवि" बोलने के वाद जो करेमि भते इत्यादि उक्ति-पूर्वक इच्छामि ठामिउ काउसग्ग इत्यादि बोला जाता है

यह प्रथम गम है। २. चतुर्थआवश्यक में करेमिभंते इत्यादि उक्तिपूर्वक जो इच्छामि पडिक्कउं इत्यादि बोला जाता है, यह द्वितीय गम है। ३. तथा पंचम आवश्यक में जो करेमिभंते इत्यादि उक्तिपूर्वक "इच्छामि ठामिउं काउसग्गं" इत्यादि बोला जाता है यह तृतीय गम है। इसी प्रकार दैवसिक की प्रथम गणना तो दिन की प्रधानता से की गई है। आवश्यक नियुंक्ति की वृहट्टीका में इस सम्बन्ध में कहा है कि--

"देवसिय राइय पक्खिय चाउम्मासे तहेव वरिसे य इक्केक्के तिन्नि गमा नायव्वा पंचसुएतेसु।"

--दिवस में जो हो उसको दैवसिक कहते हैं, ऐसे दैवसिक में तथा इसी प्रकार रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक एवं वार्षिक इन पांचों प्रतिक्रमणों में अर्थात् दैवसिक आदि एक-एक प्रतिक्रमण में तीन गमा होते है। इन पाँचों प्रतिक्रमणों में तीन गमा इसलिये होते है कि १ सामायिक करके कायोत्सर्ग करना, २ सामायिक करके प्रतिक्रमण करना, ३ एवं सामायिक करकेही पुनः कायोत्सर्ग करना होता है।

प्रश्न ११६--कोयोत्सर्ग में उच्छ्वास आदि किस विधि से लेना चाहिये ?

उत्तर-- कायोत्सर्ग में उच्छ्वास आदि सम्यक् यतना से लेना चाहिये। यतना का स्वरूप आवश्यक वृहद् वृत्ति से जानना चाहिये, तत्सम्बन्धी संक्षिप्त पाठ इस प्रकार है :--

"उमासं न णिरुभइं—कायोत्सर्गे उच्छ्वास न निरुणद्धि, किन्तु सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुंचति नोल्वणं, माभूत् सत्त्व विघात इति, एवं कासक्षुताादीनि अपि कायोत्सर्गे अग्रतो हस्त दानेन यतनया क्रियन्ते न निरुध्यन्ते, वात निसर्गे च शब्दस्य यतना क्रियते न निसृष्टमुच्यते इत्यादि।"

कायोत्सर्ग मे उच्छ्वास रोकना नही चाहिये, परन्तु सूक्ष्म यतना मे छोडना चाहिये, जोर से नही, जिससे किसी सत्त्व का घात न हो। इसी प्रकार खाँसी, छींक आदि भी काउसग्ग मे मुख के आगे हाथ रखकर यतना करना चाहिये परन्तु रोके नही। वात सचार होतो शब्द की यतना करे, किन्तु निकला हो ऐसा नही छोडना चाहिये।

यहा जीतकल्प वृत्ति मे इतनी विशेषता है कि--

"अधोवात निर्गमे च करेण एक पुताकर्षेण कार्यं येन् महान् कुत्सितः शब्दो न भवति, अन्यथा तु अविधि-रिति।"

--अधोवात निकले उस समय हाथ से एक पुता का आकर्षण करना चाहिये, जिससे महान् कुत्सित शब्द न हो। यदि ऐसा नही किया जाय तो अविधि होती है।

प्रश्न १६७—एकाशन आदि पच्चक्खाण मे "पारिट्ठावणियागारेणम्" ऐसा आगार का पाठ आता है, उसका अर्थ क्या है ? तथा परठा जाने वाला पदार्थ किसको देना चाहिये ?

उत्तर— परिष्ठापन अर्थात् सर्वथा त्याग करना। पच्चक्खाण की किये विगय आदिका मूलतः त्याग करना ही परिट्ठावणियागार कहलाता है। दूसरे स्थान पर इन पदार्थो का त्याग किया जाय तो वहुदोष की सम्भावना रहती है। आगमिक न्याय से आश्रित करने पर गुण की सम्भावना रहती है। इसलिये गुरु आज्ञा से उपभोग करने से पच्चक्खाण का भंग नहीं होता है। ऐसा आशय प्रवचन सारोद्धार की टीका में है। परठने की वस्तु किसको देना, इस सम्वन्ध में कहा है एक साधु आयम्विल वाला हो एवं दूसरा चतुर्थभक्त वाला हो चतुर्थभक्तिक को देना चाहिये। चतुर्थ-भक्तिको में वाल एव वृद्ध हो तो बालक को देना। वह बालक भी सशक्त एवं अशक्त हो तो अशक्त को देना, भ्रमण शील एवं बैठा रहने वाला हो तो भ्रमण-शील को देना, वह भ्रमणशील भी यदि प्राघूर्णक (आगन्तुक) एव वहाँ रहने वाला होतो आगन्तुक को देना एवं आगन्तुक के अभाव में वही के रहने वाले को देना चाहिये। इस प्रकार चार पदों से १६ भंग होते है। अन्तिम भंग तो वृद्ध सशक्त अभ्रमण-शील एवं वहीं रहने वाले का होता है। इनमें पहले भंग वाले को देना, उसके अभाव में दूसरे भंग वाले को देना, इसीप्रकार अन्तिम भंग वाले को भी देना चाहिये। ऐसे ही आयम्विल के समान छट्ठवाले में एवं अट्ठम भक्त वाले में १६ भंग होतें है। तथा आयम्विल एव निर्विकृतिक में भी १६ भग होते है।

परिष्ठायनिक पदार्थ न केवल आयम्विल वाले को ही देना

किन्तु गुरु से पच्चक्खान लिये हुए को भी देना चाहिये। दशमभक्तिक आदि को नहीं देना। यह आगार साधुओं के लिए ही है श्रावक तो इस सूत्र पाठ की अखण्डता के लिये उच्चारण करता है।

आवश्यक लघुवृत्ति में वृहद्वृत्ति का पाठ तो इस प्रकार है — यहाँ शिष्य प्रश्न करता है —

"केरिसयस्स साहुस्स पारिट्ठावणिय दायव्व न दायव्व वा। आयरिओ भणइ आयंबिल मणायंबिले।"

व्याख्या—

पारिट्ठावणिय भुंजणे जोग्गा साहू दुविहा आयंबिलग्गा अणायंबिलग्गा, अणायंबिलग्गा निरहिया एक्कासणेक्कट्ठाण चउत्थछट्ठट्ठम निव्विगइय पज्जवसाणा दसमभत्तियादीणं मंडलीए उव्वरियं पारिट्ठावणिय न कप्पति दाउं, तेसिं पज्ज उण्हय वा दिज्जइ अविय तेसि देवया वि होज्जा।"

अर्थ —परिष्ठापनिक पदार्थ भोजन करने योग्य साधु दो प्रकार के हैं —

१ आचम्ल वाले २ असाचाम्ल वाले एकाशन, एकलठाणा, चतुर्थ अमान उपवास, छटठ बेला-अट्ठम-तेला और निर्विकृतिक पत्त पर्यन्त वाले, दशमभक्त आदि ऊंची तपस्या वालो को पारिष्ठापनिक पदार्थ देना नहीं

कल्पता है। उन्हें पानी भी गर्म दिया जाता है; और उनका शरीर देवाधिष्ठित भी हो जाता है। अतः देने का निषेध है।

प्रश्न ११८—साधु एवं श्रावकों को कितनी साक्षी से प्रत्याख्यान करने चाहिये।

उत्तर— साधु एवं श्रावकों को आत्म, देव एवं गुरु इन तीन साक्षियों से प्रत्याख्यान करने चाहिये। पहिले आत्म-साक्षी से, पश्चात् देवसाक्षी से एवं अनन्तर गुरुसाक्षी से करना।

तंतो गुरूणा मभ्यर्णे, प्रतिपत्ति पुरस्सरम्।
विदधीत विशुद्धात्मा, प्रत्याख्यानप्रकाशनम्॥

—उसके वाद निर्मल चित्त वाला वन्दना-पूर्वक गुरु के पास पच्चक्खाण करे। अर्थात् देववन्दन के लिये आये हुए, स्नानादि दर्शन एवं धर्मकथादि के लिये वहीं वैठे हुए धर्माचार्य गुरु के पास उचित प्रदेश में निर्मल चित्त एवं दम्भरहित होकर वन्दन-पूर्वक प्रत्याख्यान करना चाहिये। देव के समीप किये हुए प्रत्याख्यान का प्रकाशन गुरु के सामने प्रगट करना चाहिये। इस प्रकार प्रस्चायान का विधान, आत्मसाक्षिक, देवसाक्षिक एवं गुरुसाक्षिक रूपमें तीन प्रकार का होता है।

प्रश्न ११९—छद्मस्थ साधु तो प्रतिलेखना करते ही हैं, किन्तु केवल ज्ञानी भी प्रतिलेखना करते है या नहीं।

उत्तर— यदि वस्यादिक जीव संसक्त हों तो केवली भी प्रति-

लेखना करते हैं, अन्यथा नहीं। छद्मस्थ मुनियों को तो वस्त्रादि जीवसंसक्त हो या न हो, प्रतिलेखना करनी ही चाहिये। जैसा कि भद्रबाहु स्वामी ने ओघनिर्युक्ति में कहा है —

"पाणीहिं संसत्ता पडिलेहा हुंति केवलीणं तु।
संसत्तम संसत्ता छउमत्थाण तु पडिलेहा॥"

—वस्त्रादि को जीव लगे हों तो केवली प्रतिलेखना करते हैं एवं छद्मस्थ तो जीव लगे हों या न लगे हों तो भी प्रतिलेखना करते ही हैं।

प्रश्न १२०—आधुनिक कई वेशधारी निह्नव सर्वदा डोरी से मुँह पर मुँहपत्ती बाँधे रहते हैं, यह जिनाज्ञानुसार है या जिनाज्ञा विरुद्ध?

उत्तर—यह जिनाज्ञाविरुद्ध ही मालूम होता है। किसी भी सूत्र में यह विधि नहीं कही गई है। शास्त्रों में जहाँ मुख-वस्त्रिका का अधिकार है, वहाँ कहीं भी डोरे का नाम भी नहीं है। इसी प्रकार सुधर्मा स्वामी से लेकर अवि-च्छिन्न वृद्ध परम्परा में भी किसी भी धर्म-गच्छ में डोरे से मुखवस्त्रिका को बाँधना दिखाई नहीं देता है। इसलिये यह सिद्धान्त एवं सुविहित आचरणों से विरुद्ध ही है। इनके [illegible] ने भी मुँहपत्ती बाँधी थी, परन्तु वह यथावसर ही बाँधी, सर्वदा के लिये नहीं। यदि सर्वदा ही मुँहपत्ती बँधी हुई हो तो विपाकसूत्र का वह पाठ असत्य हो जाता है। विपाकसूत्र के [illegible] के प्रथमाध्ययन का वह पाठ इस प्रकार है —

"तएणं सा मिया देवी तं कट्ठसगडियं अणुकड्ढमाणी जेणे व भूमि घरए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता चउप्पुडेणं वत्थेणं मुहं वंधमाणी, भगवं, गोयमा," एवं वयासी तुब्भेविणं भंते मुहपोत्तियाए मुहं वंधह तएणं से भगवं गोयमा मियादेवीए एवं वुत्ते समाणे मुहपोत्तियाए मुहं वंधइ त्ति,"

—इसके वाद मृगावती देवी काठ की सिगड़ी को खीच कर जहाँ भूमिधर (भोंयरा) है, वहां आती है। आकर चार पड़ वाले वस्त्र में मुख बाँधकर भगवान गौतम स्वामी को कहती है कि—भगवन् ! आप भी मुंहपत्ती से मुख वांधो ! उसके पश्चात् गौतम स्वामी मुंहपत्ती से मुख वांधते है।

इस पाठ से मुखवस्त्रिका से सदा के लिये मुखको वांधने वाले लिगी सूत्र के उत्थापक होने से महा मिथ्या दृष्टि होते हैं, ऐसे महा मिथ्यादृष्टियों का मुख सम्यक् दृष्टि वालों के लिये अदृष्टव्य होता है, अर्थात् इनका मुख सम्यक् दृष्टियों को नही देखना चाहिये।

आगम में कहा भी है कि—

"जे जिणवयणुत्तिरणं वयणं भासंति अहव मन्नंति।
सम्मदिट्ठीणं तद्दंसणं पि संसार वुड्ढिकरं ॥"

—जो जिन वचनों से विरुद्ध वचन वोलते हैं या मानते है, उनका दर्शन भी सम्यक्दृष्टि वालों के लिये संसार-वर्धक होता है।

प्रश्न १२१—इस समय कुछ साधु रजोहरण (ओघे) के ऊपर उन की निशिथिया (ओघेरिया) सर्वदा बाध कर रखते हैं, यह क्या आगम के अनसार है या रूढि-मात्र ही है।

उत्तर— यह रूढिमात्र ही मालूम होता है। आगम मे समयानुसार बैठने के लिये उसका उपयोग करना, ऐसा आदेश है। यह बृहत्कल्पवृत्ति के द्वितीय खण्ड मे कहा है कि—

"पाणिठय इत्यादि" गाथायाम् "निसिज्जित्ति"

रजोहरण की दो निषद्या बैठने के लिए रखी जाती है। यहा यद्यपि दो निषद्या कही है, किन्तु इसी शास्त्र मे अन्न मे एक का ही उल्लेख किया गया है। उसका पाठ इसप्रकार है —

"औपग्रहिक्या निपद्याया मुपविष्टश्चार्थंमृणोतीति"—

औपग्रहिकी मे निषद्या ऊपर बैठे हुए मुनि अर्थ सुनते हैं। इसी प्रकार योगशास्त्र वृत्ति मे भी प्रथम प्रकाश के चरित्र अधिकार मे कहा है कि "जिस स्थान पर बैठने की इच्छा हो उस स्थान को चक्षु से न देखकर रजोहरण से प्रमार्जित करके निषद्य को बिछाकर बैठे।" ऐसा ही पाठ प्रवचन सारोद्धार की वृहद्वृत्ति मे एव श्रीमलयागिरिजी कृत पिण्डनिर्युक्ति की टीका मे भी है।

प्रश्न १२२—साधु साध्वी एव श्रावक श्राविका आदि कितनी साक्षी से प्रत्याख्यान करें ?

उत्तर — आत्मसाक्षी, देव साक्षी, और गुरु साक्षी, इन तीन साक्षी से करें। पहले आत्म साक्षी से प्रत्याख्यान

में गोचरी का होना असम्भव है। इस शंका के समाधान में पुनः कहा है कि—स्वप्नादौ सम्भवादित्यदोष:"—स्वप्नादि में गोचरी का होना सम्भव है, इसलिए दोष नही है।

प्रश्न १२४—केवल ज्ञानी साधु मोक्ष को जाते हुए चौदहवें गुणस्थानक के चरम समय में जिन कर्म पुद्गलों को निर्जरा करते हैं वे परित्यक्त कर्म स्वभाव वाले पुद्गल परमाणु कितने क्षेत्र को स्पर्श करते है?

उत्तर— वे पुद्गल सारे ही लोक को स्पर्श करते है। श्री प्रज्ञापना सूत्र के इन्द्रिय पद के अन्तर्गत प्रथम उद्देशक में इस सम्बन्ध में इस प्रकार का पाठ है :—

"अणगारस्स णं भंते भावियप्पणो मारणंतियसमुग्धाएणंसोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमाणं ते पोग्गला पणत्ता समणाउसो सव्वं लोगं पि य णं ते ओग्गाहित्ता णं चिट्ठंति हंता गोयमा।"

—हे भगवन्! मारणान्तिक समुद्घात से भावितात्मा अर्थात् ज्ञान दर्शनादि गुणों से स्पष्ट मुनि के शैलेशीकाल में अन्त्य समय में होने वाले निर्जरा के पुद्गल कर्मभाव से रहित परमाणुओं को आपने निश्चित रूपसे सूक्ष्म होने से चक्षु आदि इन्द्रियों के अविषय भूत कहे है।

इस प्रकार गौतमस्वामी द्वारा प्रश्न करने पर भगवान् कहते है कि—हता गोयमा—'हे आयुष्मन्! श्रमण! इस प्रकार से निश्चित है कि वे पुद्गल सूक्ष्म है एव सर्वलोक को स्पर्श करके रहते हैं।

शका-इन पुद्‌गलो को छद्मस्थ जीव जानता है व देखता है कि नही ?

समाधान-इन पुद्‌गलो को केवली समस्त आत्म प्रदेशो से जानते है व देखते है। विशिष्ट अवधि ज्ञानरहित छद्मस्थ जीव न जानता है व न देखता ही है। इसी प्रकार कोई देव भी नही जानता है व न देखता है। ऐसी स्थिति मे मनुष्य तो किस प्रकार जान सकता है व देख सकता है ? इत्यादि अधिकार पन्नवणा सूत्र से जानना चाहिये।

प्रश्न १२५—दर्पण को देखने वाला मनुष्य क्या दर्पण को देखता है या अपने शरीर को देखता है अथवा अपने प्रतिबिम्ब को देखता है ?

उत्तर— प्रत्यक्षरूप मे सामने होने से दर्पण को देखने वाला मनुष्य दपण तो देखता ही है, परन्तु अपने शरीर को नही देखता। क्योकि उसका अपना शरीर अपनी आत्मा मे स्थित रहता है, दर्पण मे नही। वह अपने शरीर के प्रतिबिम्ब को देखता है, क्योकि उसमे छाया का पुद्‌गलरूप है। श्री प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति मे कहा है कि—

"आयंसो पहगाणो"—

दर्पण को देखने वाला मनुष्य क्या दर्पण को देखता है या शरीर के प्रतिबिम्ब को ? "भगवान् आह–" भगवान् बोले– दर्पण को तो वह देखता ही है क्योकि उसका प्रत्यक्षरूप व्यवस्थित रूप मे उसके द्वारा जाना गया है, किन्तु अपने शरीर को नही देखता है क्योकि उसका उस (दपण मे) अभाव है,

इसलिये कि उसका अपना शरीर उसकी अपनी आत्मा में स्थित है, दर्पण में नहीं। अतः अपने शरीर को वह कैसे देख सकता है! "पालिभागमिति"--अपने शरीर के प्रतिविम्ब को वह देखता है। प्रतिविम्व-छाया का पुद्‌गल है। तथा समस्त ऐन्द्रिक वस्तु स्थूल एवं वृद्धिहानि की धर्मवाली है। किरणों के समान समस्त किरणे होती हैं, इसप्रकार छाया का पुद्‌गलरूप व्यवहृत होता है। ये छाया पुद्‌गल प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। अतएव प्रत्येक स्थूल वस्तु की छाया को प्रतिति प्रत्येक प्राणी को होती है।

प्रश्न १२६--कम्वलादि वस्त्र अतिशय दृढ़ता के साथ वेष्टित होने पर जितने आकाश प्रदेशों को अवगाहित (स्पर्श) करता है, क्या खुला करने (फैलाने) पर भी उतने ही आकाश प्रदेशों को अवगाहित करता है या न्यूनाधिक आकाश प्रदेशों को।

उत्तर— दोनों प्रकार से भी वह वस्त्र समान आकाश प्रदेशों को स्पर्श करता है न्यूनाधिक रूप में नहीं। इसमें केवल घन और प्रतर मात्र की विशेषता है—प्रदेश संख्या तो दोनों में वरावर है। श्री प्रज्ञापना सूत्र-वृत्ति में इन्द्रियपद के अन्तर्गत प्रथमोद्देशक में "कंवल साडएणं भते—" इत्यादि पाट में यह अधिकार है।

प्रश्न १२७—"अचित्त जोणि सुरनिरय" इस वचन से सूत्र में देव एवं नारकों की सचित्त योनि कही है, वह कैसे सम्भव है? क्योंकि सूत्र में सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव को सर्वलोक व्यापी कहा है!

उत्तर— सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सर्वलोक में व्याप्त होने पर भी उनके प्रदेशों से देव एवं नारकों के उपपात स्थान के

पुद्गल परस्पर अनुगम से सम्बद्ध नही है, इसलिये उनकी अचित्त योनि होती ही है, ऐसा कहने मे कोई दोष नही है जैसा कि श्री प्रज्ञापना सूत्रके नवम पद मे कहा है—

पथ —"यद्यपि च सूक्ष्मैकेन्द्रियाः सकल लोक व्यापिनः तथापि न तत्प्रदेशैरूपपात स्थान पुद्गलः अन्योन्यानुगमेन सम्बद्धा, इति अचिता एव तेषा योनिरिति। एव सग्रहणी वृत्तावपि बोध्यम्। श्रीभगवती वृत्तौ दशम शतके द्वितीयोद्देशकेऽप्युक्तं-तथाहि" सत्यपि एकेन्द्रिय सूक्ष्मजीव निकाय सम्भवे नारकदेवाना यद् उपपात क्षेत्र तद्य केनचिज्जीवेन परिगृहीतमिति अचित्ता तेषा योनिरिति।"

—यद्यपि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सकल लोक व्यापी है तो भी उनके प्रदेशो मे देव नारको के उपपात स्थान के पुद्गल परस्पर अनुगम से सम्बद्ध नही है, इसलिये उनकी अचित्त योनि ही है। यही पाठ सग्रहणी वृत्ति मे भी है। श्री भगवतीसूत्र की टीका मे दशम शतक के द्वितीय उद्देशक मे भी कहा है कि—"सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव निकाय सम्भव है, फिर भी देव एव नारकों का जो उपपात क्षेत्र है, वह किसी भी जीव ने ग्रहण किया हुआ नहीं है, इसी उनकी योनि अचित्त है।

प्रश्न १२८—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एव जीवास्तिकाय, इन चारो ही द्रव्यो के जो जो आठ मध्य प्रदेश है वे रुचक प्रदेश कहलाते है।

उनमें आकाश के आठ मध्यप्रदेश तो समभूतल प्रदेश में मेरु के मध्य स्थित है ही यह प्रसिद्ध ही है, किन्तु धर्म, अधर्म और जीवास्तिकाय के मध्य-प्रदेश कहाँ रहते है ? तथा केवली भगवान् जब समुद्घात करते हैं, तब जीव के आठ मध्य प्रदेश कहां रहते है ? (१) और वे आठ जीव प्रदेश कितने आकाश प्रदेशों में अवगाहन करते हैं ? (२) तथा वे आठ प्रदेश कर्मो से लिप्त होते है कि नही ? (३)

उत्तर — धर्मास्तिकाय एवं अधर्मास्तिकाय के जो आठ प्रदेश है वे सर्वदा आकाशास्तिकाय के आठ रूचक प्रदेशों में रहते है, क्योंकि इन दोनों के प्रदेश लोकाकाश के समान-प्रमाण वाले है तथा अपने प्रदेशों से लोकाकाश प्रदेशों में व्याप्त होकर सर्वदा अविचल रूप में रहते हैं।

जीवों के आठ मध्यप्रदेश तो अपने अपने शरीर के मध्य-भाग में ही सर्वदा रहते हैं तथा केवली समुद्‌धात के समय ये मेरू पर्वत के मध्य मे स्थित आकाशास्तिकाय के आठ रूचक प्रदेशों में रहते है। एदं अन्य समय में अविचल हैं ही। (१)

जीवों के ये आठ रुचक प्रदेश जधन्य से एक आकाश-प्रदेश में अथवा तीन, चार पांच या ६ आकाश प्रदेशों में भी रहते है, क्योंकि इनमें संकोच एवं विकास का स्वभाव रहता है। उत्कृष्ट से आठ आकाश प्रदेशों में (एक एक प्रदेश में) अव-गाहन करते है। परन्तु सात आकाश प्रदेशों से अवगाहन नही करते क्योंकि इनका वैसा ही स्वभाव है। (२)

जीवों के ये आठ रूचक प्रदेश अविचल होने से कर्मों से लिप्त नहीं होते। सर्वदा निराकरण ही रहते है। शेष आत्म

प्रदेश उबलते हुए जल के समान निरन्तर उद्वर्तन परिवर्तन-शील (चल स्वभावी) होने से कर्म लिप्त होते हैं। (३) यह सम्पूर्ण अधिकार श्री भगवती सूत्र, पच्चीसवें शतक के चतुर्थ उद्देशक मे, स्थानाङ्ग सूत्र के आठवें सूत्र मे एव आचाराङ्ग सूत्र मे द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक मे तथा ज्ञान दीपिका मे भी कहा है।

प्रश्न १२६—स्थानाङ्गादि शास्त्रो मे जीव, अजीव आदि नव तत्त्व कहे हैं परन्तु पुण्यादि सात तत्त्व जीव अजीव से व्यतिरिक्त (भिन्न) नही हैं। क्योकि ये सयोग से बने हुए हैं। अर्थात् पुण्य एव पाप ये कर्म है एव बन्ध भी कर्म का ही होता है और कर्म पुद्गलो का परिणाम है तथा पुद्गल अजीव ही हैं। इसी प्रकार मिथ्या दर्शन दिरूप आश्रव तो जीव का परिणाम एव आश्रव निरोध रूप सवर भी निवृत्ति रूप जीव का परिणाम है। कर्म रूप पुद्गल परमाणुओ का नाश करना निर्जरा है तथा अपनी शक्ति से कर्म एव जीव का मूलत पार्थक्य होना अर्थात् सर्वकर्म विरहित होना ही मोक्ष है। अत जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व हैं।

उत्तर — यह सत्य है। सामान्यतया जीव एव अजीव ये दो ही पदार्थ सूत्र मे कहे हैं, परन्तु विशेपरूप से इन दोनो तत्त्वो को नव तत्त्वो के रूप मे (नव प्रकार से) वहाँ कहा है क्योकि प्रत्येक पदार्थ सामान्य एव विशेप रूप से होता है। (यहा नवतत्त्व की व्याख्या विशेप रूप से है।) वह

इस प्रकार कि-आश्रव से बन्ध होता है एवं वन्ध द्वारा पुण्य और पाप बनते हैं, जो संसार के कारण भूत है। तथा संवर एवं निर्जरा ये दोनों मोक्ष के कारण हैं। संसार के कारणभूत पुण्य पाप तत्त्वों के परित्याग से ही संवर एवं निर्जरा की प्रवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। और सम्पूर्ण निर्जरा से मोक्ष होता है। इसलिये इसको प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त छः तत्त्व भी आवश्यक हैं ऐसी स्थिति में नव तत्त्व कहने में कोई दोष नही। नव तत्त्व की यह समस्त व्याख्या स्थानाङ्ग वृत्ति के आधार पर की गई है, अतः विशेष जिज्ञासु को वही से जानना चाहिये।

प्रश्न १३०—षडशीतिक कर्म ग्रन्थ में "मणणाण चक्खुवज्जा अणाहारे" इस गाथा में मनःपर्यवज्ञान एवं चक्षु दर्शन के बिना शेष दश उपयोग अनाहारक में होते है। इस कथन से आचार्य भगवान ने विग्रह गति आदि में चक्षु दर्शन का निषेध किया हैं एवं अचक्षु दर्शन स्वीकृत किया है। यह कैसे सम्भव हो सकता है; क्योंकि अनाहारक अवस्था में एक भी इन्द्रिय नहीं होने से चक्षु अचक्षु दोनों का संभव नही है। अर्थात् जिस प्रकार विग्रह गति में चक्षु इन्द्रिय का उपयोग नही होता वैसे ही शेष इन्द्रियों का भी नही होता। क्योंकि उस समय एक भी इन्द्रिय की निष्पत्ति नही होती।

उत्तर — इन्द्रियों के आश्रय के बिना सामान्य उपयोग मात्र

को भी अचक्षु दर्शन कहा है एव उस समय इसका सद्भाव (सामान्य उपयोग) अनाहारक मे भी होने से उक्त दोष के लिये कोई अवकाश नही अर्थात् कोई दोष नही। श्री भगवती सूत्र के तेरहवे शतक के प्रथम उद्देशक मे उसका विवेचन इसी प्रकार कियागया है।

प्रश्न ६३१—समस्त युगलिक मनुष्यो का कितना आयुष्य शेष रहे तब उनके सन्तानोत्पत्ति होती है ?

उत्तर — इनका छ मास आयुष्य शेष हो तब सन्तान की उत्पति होती है इसके पश्चात् प्रथम आरे मे ४८ दिन, दूसरे मे ६४ दिन एव तीसरे मे ७८ दिन तक वे सन्तानो का पालन करते है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के प्रथमारक स्वरूपाधिकार मे जीवाभिगम सूत्र के अन्तरद्वीपाधिकार मे कहा है कि—

"छम्मासावसेसाउ ना जुगल पसवंति त्ति"

युग्म सुतसुतारूपं षण्मासशेषजीविता.। प्रसूय यान्ति त्रिदिवमेते मृत्वा समाधिना ॥१॥

इत्यादि लोक प्रकाशेऽपि एतेन एकोनाशीत्यादि दिनानि अपत्यपालनं विधाय तत्काल युगलिनो म्रियन्ते इति भ्रान्तिः परास्ता।

युगलिक छ मास आयुष्य रहे तब पुत्र पुत्री रूप युगल को जन्म देते है। लोक प्रकाश मे भी कहा है कि ये युगलिक

जन्म देकर समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त करते हुए स्वर्ग में जाते हैं। इस प्रकार समस्त युगलिक अपना आयुष्म छः मास शेष रहे तभी युगल को जन्म देते है। इससे ७८ दिन, ६४ दिन एवं ४८ दिन सन्तानों का पालन करके शीघ्र ही मर जाते है यह भ्रान्ति दूर होती है।

प्रश्न १३२—तीन पल्योपम आयुष्य वाले एवं तीन गव्यूत ऊंचाई वाले युगलियों को २५६ पृष्टिकरण्डक कहा है एवं दो पल्योपम आयुष्य वाले तथा दो गव्यूत ऊंचाई वाले युगलियों को १२८ पृष्टि-करण्डक एवं एक पल्योपम आयुष्य वाले व एक गव्यूत ऊंचाई वाले तथा पल्योपम के असंख्येय भाग युक्त आयुष्य वाले एवं ८०० ऊंचाई वाले युगलियों को ६४ पृष्टि करण्डक कहा है। यह पृष्टिकरण्डक क्या है अर्थात् पृष्टि करण्डक शब्द से क्या समझना चाहिये ?

उत्तर — पृष्टिकरण्डक शब्द का अर्थ पृष्टि वंश होता है अतः यहां पृष्टि करण्डक शब्द से पृष्टि वंश समझना चाहिये। जिस प्रकार अपने जैसे छोटे शरीर वालों का एक पृष्टि वश होता है वैसे ही वड़े शरीर वालों के उतने ही पृष्टिवंश होते है जैसा कि जीवाभिगम वृत्ति में कहा है कि अन्तर दीपक मनुष्य ८०० धनुष जितने ऊंचे है तो वे ६० पृष्टि वंश के होते है इसी प्रकार अधिक प्रमाण के शरीर वालों के वहुत पृष्टि वंश

होते हैं। यही कथन अन्य स्थान पर भी युगलिका-
धिकार मे भी है ।

प्रश्न १३३—मेरु पवत की पश्चिम दिशा में समभूतल पृथ्वी
से लेकर क्रम से नीची जाती हुई भूमि,
नालिनावती एव अविजय नाम के क्षेत्र में एक
हजार ऊडी (नीची) हो जाती है । वहा के
जितने भी ग्राम हैं वे अधोग्राम कहलाते हैं उस
प्रदेश मे शीतोदा नदी भी समभूतल की अपेक्षा
से एक हजार योजन नीचे वहती हे एव जयन्त
नाम के द्वार से मुक्त जगती एव समुद्र ये दोनो
नदी के अपेक्षा मे एक हजार योजन ऊपर
(ऊचे) है । ऐसी स्थिति मे जगती किसके
ऊपर स्थित हे तथा शीतोदा नदी का जल समुद्र
मे कैसे प्रवेश करता ह ?

उत्तर -— अधोग्रामो के अन्त मे एक हजार योजन ऊ ची
भूमि भिति (दीवाल) हे । उसके ऊपर जयन्त
नामक द्वार से युक्त जगती की दीवाल हे तथा
शीतोदा नदी भी जगनी के नीचे की एक हजार
योजन की दीवाल को भेद कर समुद्र मे प्रवेश
करती है। जैसा कि लोक प्रकाश के सप्तदशमम
(१७वें) सर्ग मे कहा है —

विजये नलिनावत्या वप्राख्ये चान्तवत्तिनः ।
सहस्रयोजनान्युण्डा ग्रामा भवन्ति केचन ॥ २४ ॥
तनोऽधोलौकिकग्रामा इतितेख्यातिमेंयसः ।

तेषामन्ते स्थिता भूमि भित्ती रोद्धु मिवार्णवम्॥२५॥
तत्रैव जगती भित्तिर्जयन्त द्वार राजिता।
ऊर्ध्वं स्थिताऽधोग्रामाणां दिदृक्षुरिव कौतुकम् ॥२५॥
शीतोदाऽपि तत्रीस्वभावा, दिवाऽधोगासिनीक्रमात्।
योजनानां सहस्रेषु, याति भित्त्वा जगत्यधः ॥२७॥

इन श्लोकों का अर्थ ऊपर की पंक्तियों में व्यक्त किये गये समाधान में आ गया है।

प्रश्न १३४--पुष्करार्ध द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत की ओर जो प्रवाहशील नदियाँ है उनका जल कहाँ जाता हैं? क्योंकि उनके आगे समुद्र का अभाव है एवं मानुषोत्तर पर्वत वलयाकार में चारों ओर स्थित है?

उत्तर -- उन नदियों का जल मानुषोत्तर पर्वत के नीचे के प्रदेशों में जाता है। ऐसा क्षेत्र समास सूत्र वृत्ति में कहा है :—

यथाः –तह इह वहिमुह सलिला पविसंति य नरगस्स अहोत्ति"

पुष्करार्ध क्षेत्र में मानुषोत्तर पर्वत की ओर वहने वाली नदियों का जल आगे समुद्र का अभाव होने से मानुषोत्तर पर्वत के नीचे जाता है।

त्र में कहीं ऐसी गाथा देखने में आती

क—

भाणेयमिणं पुक्खरखहिगामिणीउ सालेला ओ।
भिंदित्तु माणुस नग प्रक्खर उदहिं समल्लीणा ॥१॥

—पुष्करार्ध क्षेत्र मे मानुपोत्तर पर्वत की ओर वहने वाली नदिया मानुपोत्तर पर्वत को भेदकर पुष्करवर समुद्र मे मिलती है। परन्तु मनुपोत्तर पर्वत के बाहर नदियो का अभाव कहने से उन नदियो का पुष्करवर समुद्र जाना कैसे सम्भव है यह विचारणीय हे ?

लोक प्रकाश मे भी इस प्रकार कहा हे —
यथाः—एव नरोत्तर नगाऽभिमुखाः सरितोऽखिलाः ।

निलीयन्त इह ततः पर तासामभावतः ॥७५७॥

—इस कार मानुपोत्तर पर्वत की ओर वहने वाली समस्त नदिया, उनके आगे कुछ नही होने से यही विलीन हो जाती हैं।

इसी प्रकार स्थानाङ्ग सूत्र के सप्तम स्थान मे तो यह पाठ है —

यथाः—"पुक्खरवरदीवड्ढपुरात्थिमद्धे ण सत्त वासा तहेन नवर पुरत्थाभिमुहीओ पुक्खरो दसमुद्द समुप्पेंति। पञ्चत्थाभि मुहीओ कालोद समुद्द ।'

(इसका अर्थ ऊपर की पक्तियो मे दे दिया है)

यहा साक्षात् पाठ दर्शन से ऊन नदियो का पुष्करोदधि मे जाना युक्त ही है।

प्रश्न १३५—जिस प्रकार जीवों को देवत्व एवं नृपत्व आदि भाव अनन्त वार प्राप्त होते है, उसी प्रकार इन्द्रत्व, तीर्थङ्करत्व, भावितात्मा अनगारत्व चक्रवर्त्तित्व अर्धचक्रवर्त्तित्व आदि भाव भी अनन्त-बार प्राप्त हुए है या नहीं ?

उत्तर — देवेन्द्रत्वादि भाव अनन्तवार प्राप्त नहीं हुए हैं। शेष भाव तो सभी अनन्तवार प्राप्त हुए हैं।

आचाराङ्ग सूत्र वृत्ति के प्रथम उद्देशक में जैसा कि इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा है:—

यथाः—देविंदचक्कवट्टित्तणाइ मो-त्तुण तित्थयर भावं।
अणगार भावियाप्पा विय सेसा य अणंतसो पत्ता॥

—देवेन्द्रत्व एवं चक्रवर्तित्वादि तथा तीर्थङ्करत्व और भावितात्मा-अनगारत्व भाव को छोड़कर शेप समस्त भाव अनन्तबार प्राप्त होते है।

यहां यह शंका होती है कि यदि आचाराङ्ग सूत्र वृत्ति के उक्त सिद्धान्त को मान लिया जाय तो "मरण विधि प्रकीर्ण" में दी गई निम्न गाथा का भाव असंगत हो जाता है। वह गाथा इस प्रकार है :—

देविंद चक्कवट्टित्तणाइ रज्जाइ उत्तमा भोगा।
पत्ता अनन्त खुत्तो न य हं तित्तिं गओ तेहिं॥

—मैंने देवेन्द्रत्व एवं चक्रवर्त्तित्व राज्य आदि भोग अनन्तबार प्राप्त किये हैं, फिर भी मैं उनसे तृप्त नहीं आ।

इस प्रकार "मरणविधि प्रकीर्णक" के ये विचार आचाराङ्ग सूत्र वृत्ति के पाठ से विरुद्ध पडते हैं, क्योकि "मरणविधि प्रकीर्णक" के इन विचारो मे वे भाव अनन्तवार प्राप्त होते है ऐसा वताया गया है।

इसका समाधान इस प्रकार हे कि सिद्धान्त के वचन परस्पर अविरोधी होने से यहा प्रकारान्तर से इस प्रकार अर्थ लगाना चाहिये । उपर्युक्त गाथा मे, प्रथम पद मे "अणेगसो" (अनेकश) यह पद अध्याहार से लेने पर ऐसा अर्थ करना कि "देवेन्द्र चक्रवर्तित्वादि पद मैंने अनेक वार प्राप्त किये ह तथा अन्य राज्यादि उत्तम भोग अनन्त वार प्राप्त किये है फिर भी मैं उनसे तृप्त नही हुआ।" इस प्रकार अर्थ योजना से कोई विरोध उत्पन्न नही होता। अथवा दूसरे प्रकार से भी आप्तोक्तियों के बुद्धिमान वेत्ताओ को इस प्रकार की अर्थ योजना करनी चाहिये।

पुन यहा कोई प्रश्न करता है कि देवेन्द्रत्वादि भाव यदि अनन्तवार प्राप्त नही किये तो कितनी वार प्राप्त किये ?

इसका समाधान इस प्रकार है कि तीर्थङ्करत्व भाव यदि कोई जीव प्राप्त करता है तो वह एक वार ही नही वार वार प्राप्त करता हे, यह प्रसिद्ध है। तथा भावितात्मत्व एव अन-गारात्वभाव कतिपय जीव आठ वार प्राप्त करते है, क्योकि आठभवो मे ही उनकी प्राप्ति का उल्लेख श्री भगवती सूत्रवृत्ति मे किया गया है, जो इस प्रकार है --

यथाः—कति विहाणं आराहणा पण्णत्ता, गोयमा। तिविहा आराहणा पण्णत्ता त जहा-णाणाराहणा "उपधानाद्युपचार करण" दंसणाराहणा निःशङ्कितत्वादि तदाचारानु-

पालनं, चरित्ताराहणा निरतिचारता, णाणाराहणाणं, भंते, कई विहापरणत्ता, गोयमा, तिविहा पण्णत्ता तं जहा उक्कोसिया मज्झिमा जहरणा, दंसणाराहणाणं भंते कति विधा पण्णत्ता एवं चे व तिविहा वि एवं चेव चरित्ताराहणावि, जस्स णं भंते, उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स उक्कोसिया दंसणाराहणा, जस्स उक्कोसिया दंसणाणाराहणा, गोयमा, जस्स उक्कोसिया णाणाराहणा तस्स दंसणाराहणा, उक्कोसा वा अजहण्णुक्कोसा वा "उत्कृष्ट ज्ञानाराधनावतोहि आद्ये द्वे दर्शनाराधने भवतो न पुनस्तृतीया तथा स्वभावत्वात् तस्येति" जस्स पुण उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स णाणाराहणा उक्कोसा वा जहण्णा वा अजहण्णमणुक्कोसा वा, जस्स णं भंते, उक्कोसिया णाणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्स उक्कोसिया णाणाराहणा जहा उक्कोसिया णाणाराहणा य दंसणाराहणा य भणिया तथा उक्कोसिया णाणाराहणा य चरित्ताराहणा य भाणियव्वा" उत्कृष्ट ज्ञानाराधन वतो हि चारित्रं प्रति नाऽल्यत्तम प्रयत्नता स्यात् तत्स्वभावत्वात् तस्येति" जस्स णं भंते, उक्कोसिया दंसणाराहणा तस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा जस्सुक्कोसिया चरित्ताराहणा तस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा, गोयमा, जस्सुक्कोसिया दंसणाराहणा तस्स चरित्ताराहणा

उक्कोसिया वा जहण्णा वा अजहण्णमणुक्कोसा वा, जस्स पुण उक्कोसिया चारित्ताराहणा तस्स दंसणाराहणा नियमा उक्कोसा उक्कोसियाण भंते णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेइ" उत्कृष्ट चारित्राराधना सद्भावे "अत्थे गइए कप्पोवएसु" कल्पोपगेषु सौधर्मादिदेवलोकोपगेषु देवेषु मध्ये उपपद्यते मध्यम चारित्राराधनासद्भावे" कप्पातीत एसु वा त्रिग्रैवेय कादिदेवेषु उववज्जइ उपपद्यते मध्यमोत्कृष्ट चरित्राराधना सद्भावे "उक्कोसियाणं भंते दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गाहणेहिं एव चेव। उक्कोसियेणं भंते चरित्ताराहणं आराहेत्ता एव चेव, नवरं अत्थे गइए कप्पातीतएसु उववज्झति" उत्कृष्ट चरित्राराधनवतः सौधर्मादि कल्पेष्वगमनात्, माज्झिमियाणं भंते णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ जाव अंतं करेंति, गोयमा, अत्थे कतिए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झति जाव अंतं करेति।" अधिकृत मनुष्यभवापेक्षया द्वितीयेन मनुष्य भवेनेति" । तच्चं पुण भवग्गहणं णातिक्कमति" एतास्च चारित्राराधनाः सवलिताः ज्ञानाराधना इह विवक्षिता कथमन्यथा जघन्य ज्ञानाराधनाम् आश्रित्य वक्ष्यति "सत्तट्ठ भवग्गहणाइं पुण णातिक्कमति त्ति" यवच्चरित्राराधनाया एवेदं फलम् उक्तं. यदाह—"अट्ठभवाउ चरणेत्ति" श्रुतसम्यक्त्व

देश विरतिभवास्तु असंख्येया उक्तास्ततः चरणाराधना-रहित ज्ञान दर्शनाराधना असंख्येय भविका अपि भवन्ति नतु अष्टभविका एवेति । "मज्झिमियंणं भंते दंसणाराहणं आराहेत्ता एवं चेव, एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणंपि जहण्णियं णं भंते णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गह णेहिं सिज्झति, जाव अंतं करेति, गोयमा, अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गणेणं सिज्झति जाव अंतं करेति, सत्तट्ठभवग्ग हणाइं पुण णाइक्कमति एवं दंसणाराहणं पि एवं चरित्ताराहणंपि" इति भगवत्यष्टमशते दशमोद्देशके विशेषार्थस्तु एतद्वृत्तेर्ज्ञेयः ।

"तथा इन्द्रत्व चक्रित्व वासुदेवत्वादिभावान् जीवः संसारे वसन् कति वारान् प्राप्नोतीति तु क्वापि शास्त्रे दृष्टं नास्तीति न लिख्यते, हीरप्रश्नेऽपि एतत्प्रश्नस्य इदमेव उत्तरं प्रोक्तमस्ति इति ॥"

भावार्थः—हे भगवन् आराधना कितने प्रकार की होती है? गौतमस्वामी के द्वारा इस प्रश्न करने पर भगवान ने कहा—गौतम ! आराधना तीन प्रकार की होती है जो इस प्रकार है:—ज्ञानाराधना, २ दर्शनाराधना एवं ३ चारित्राराधना। ज्ञानाराधना में उपधान आदि किये जाते है, दर्शनाराधना तव होती है, जव जिन वचनों में किसी भी प्रकार की भी शंका न की जाय एव चार का पालन किया जाय तथा अतिचार रहित चरित्र के पालन करने का नाम चारित्राराधना है।

हे भगवन् ! ज्ञान की आराधना कितने प्रकार की होती हैं ? गौतम ! ज्ञान की आराधना तीन प्रकार की होती हैं। यथा १ उत्कृष्ट, २ मध्यम एव जघन्य।

हे भगवन् ! दर्शनाराधना कितने प्रकार की है ?

गौतम ! उपर्युक्तानुसार तीन प्रकार की होती है, यही तीन प्रकार दर्शनाराधना के भी हैं।

हे भगवन् ! जिसको उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना हो तो उसको क्या उत्कृष्ट दर्शन की आराधना होती है। एव जिसको उत्कृष्ट दर्शन की आराधना हो, तो उसको क्या उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना होती है।

हे गौतम ! जिसको उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना होती है उसको उत्कृष्ट दर्शन की आराधना होती है अथवा मध्यम आराधना भी होती है। उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना करने वाले को आदि के दो दर्शन की आराधना होती है, तीसरे की नहीं, क्योंकि उसका वैसा ही स्वभाव है। एव जिसको उत्कृष्ट दर्शन की आराधना होवे उसको ज्ञान की आराधना उत्कृष्ट, मध्यम एव जघन्य तीनो प्रकार की होती है।

हे भगवन् ! जिसको उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना होवे उसको उत्कृष्ट चारित्र की आराधना होती है। एव जिसको उत्कृष्ट चारित्र की आराधना होती है, उसको क्या उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना होती है ?

हे गौतम ! जिस प्रकार उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना एव दर्शन की आराधना कही है उसी प्रकार उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना एव उत्कृष्ट चारित्र की आराधना भी जाननी चाहिये। उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना वाले को चारित्र की

और अल्पप्रयत्नता नहीं होती क्योंकि उसका वैसा ही स्वभाव है।

हे भगवन्! जिसको उत्कृष्ट दर्शन की आराधना होती है तो क्या उसको उत्कृष्ट चारित्र की आराधना होती है ? तथा जिसको उत्कृष्ट चारित्र की आराधना हो तो क्या उसक उत्कृष्ट दर्शन की आराधना होती है ?

हे गौतम ! जिसको उत्कृष्ट दर्शन की आराधना हो, उसको चारित्र की आराधना उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य तीनों प्रकार की होती है। इसी प्रकार जिसको उत्कृष्ट चारित्र की आराधना हो उसके दर्शन की आराधना उत्कृष्ट नियमा होती है।

हे भगवन् ! उत्कृष्ट ज्ञान की आराधना करके जीव कितने भवों में सिद्ध होता है ? जव तक कर्म का क्षय करे।

हे गौतम ! कितने ही जीव उसी भव में सिद्ध हो जाते है जव तक कर्म का क्षय करें। कितने ही दूसरे भव में सिद्ध होते है, यावत् कर्म का क्षय करें। उत्कृष्ट चारित्र की आराधना हुई हो तो कितनेक जीव कल्पोपन्न सौधर्मादिक देवों के मध्य उत्पन्न होते हैं एवं मध्यम चरित्र की आराधना हुई हो तो कल्पातीत ऐसे ग्रैवेयकादि देवलोक में उत्पन्न होते है।

हे भगवन् ! उत्कृष्ट दर्शन की आराधना करके जीव कितने भव में मोक्ष जाता है ?

हे गौतम ! ऊपर कहे हुए के अनुसार उसी भव में या दूसरे भव में मोक्ष जाता है।

हे भगवन्! उत्कृष्ट चारित्र की आराधना करके कितने भव मे मोक्ष जाता है?

हे गौतम! उपर्युक्त कथनानुसार ही, परन्तु विशेष मे यह है कि कोई एक जीव कल्पातीत ग्रैवेयकादि मे उत्पन्न होते है। उत्कृष्ट चारित्र की आराधना वाला सौधर्मादि देव-लोक मे उत्पन्न नही होते।

हे भगवन्! ज्ञान की आराधना मध्यम रीति मे करके जीव कितने भव मे सिद्ध होता है?

हे गौतम! कुछ जीव दूसरे भव मे सिद्ध होते है। अनिकृत मनुष्य भव की अपेक्षा से द्वितीय मनुष्य भव लेकर तीसरा भव नही करते है।

हे गौतम! कुछ जीव दूसरे भव से सिद्ध होते है अनिकृत मनुष्य भव लेकर तीसरा भव नहीं करते है।

यहा चारित्र की आराधना ज्ञान की आराधना के साथ विवक्षा की हुई है इसके अतिरिक्त तो जघन्य ज्ञान की आराधना को आश्रित कर सात आठ भवसे अधिक भव नहीं होते है ऐसा कहेगे तो यह कैसे सम्भव है? क्योंकि चारित्र की आराधना का फल होता है, जिसके सम्बन्ध मे कहा है कि जघन्य चारित्र की आराधना करने वाला अधिक से अधिक आठ भव मे तो सिद्ध होना ही है पुन सम्यक्त्व एवं देश विरति वाले के भव तो असंख्यात कहे है। इसीलिये चरित्र की आराधना से रहित ज्ञान गुण दर्शन की आराधना असंख्यात भव वाली होती है, सात-आठ भव वाली नही।

हे भगवन्! मध्यम रीति से दर्शन की आराधना करके जीव कितने भव मे मोक्ष जाता है?

हे गौतम ! पूर्व के अनुसार ही मध्यमरीति से चरित्र की आराधना करके जीव कितने भव में सिद्ध होता है ? क्या यावत् कर्म का अन्त करता है ?

हे गौतम ! कुछ जीव तीसरे भव में सिद्ध होते हैं। यावत कर्म का अन्त करते हैं। सात आठ से तो अधिक भव नहीं करते है। इस प्रकार जघन्य दर्शन की आराधना एवं चारित्र की आराधना के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

इस सम्बन्ध में यह प्रकरण भगवती सूत्र के अष्टम शतक के अन्तर्गत दशम उद्देशक में कहा है। विशेषार्थ उसकी टीका से जानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त इन्द्रत्व, चक्रवर्त्तित्व एवं वासुदेवत्व आदि भावों को संसार में रहता हुआ जीव कितनी बार प्राप्त करता है ? इस प्रश्न का उत्तर किसी भी शास्त्र में देखने में नहीं आया। तीन प्रश्न भी इस प्रश्न का यही उत्तर दिया गया है इन्द्रत्व, चक्रवर्तित्व आदि भावों के जीवों ने अनन्त बार प्राप्त नहीं किये।

प्रश्न १३६—द्रव्यमन एवं भाव मन का स्वरूप क्या है ? तथा द्रव्यमन के विना भावमन होता है कि नहीं ? एवं भाव मन के बिना द्रव्यमन होता है कि नहीं ?

उत्तर— संज्ञि पंचेन्द्रिय जीव मनः पर्याप्ति नाम कर्म के उदय से मन के योग्य पुद्गल द्रव्यों को ग्रहण करके उनको मनन रूप में परिणित करता है, तो द्रव्यमन कहलाता है। एवं उन मन द्रव्यों का

आलम्बन कर जीव का जो मनन रूप व्यापार चलता है, वह भावमन कहलाता है, जिनके सम्बन्ध में नन्दी अध्ययन में चूर्णिकार इसी प्रकार कहते हैं कि—

"मणपज्जत्ति नाम कम्मोदयतो जोगे: मणो दव्वे घेतु।
मणत्तेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भण्णइ" ॥

"जीवो पुण मणण परिणाम किरियावं तो भावमणो किं भणिय होइ मणदव्वालम्बणो जीवस्य मणणवावारो भाव मणो मन्न इति"

इसका अर्थ ऊपर दे दिया गया है।

द्रव्य मन के बिना असज्ञी के समान भावमन नहीं होता। किन्तु भवस्थ केवली के समान भावमन के बिना भी द्रव्यमन होता है। इसके सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप लोकप्रकाश में कहा है कि –

द्रव्यचित्तं विना भावचित्तं न स्यादसंज्ञिवत्।
विनाऽपि भावचित्तं तु द्रव्यतो जिनवद् भवेत् ॥

इस प्रकार भावमन के बिना भी भवस्थ केवली के समान द्रव्यमन होता है। ऐसा प्रज्ञापना वृत्ति में भी कहा है। ऐसा कहने से समस्त एकेन्द्रियादि असंज्ञि जीवों के द्रव्यमन का अभाव होने से भावमन नहीं है यह स्पष्ट है। तथा जब 'भाव मन' शब्द से चैतन्य मात्र विवक्षा की जाती है तो द्रव्यमन के बिना भी 'भावमन' होता है एवं वह सभी जीवों के भी है ही। इसी अभिप्राय से श्रीभगवती सूत्र की वृत्ति में तो भावमन के

युक्त जीवों की उत्पत्ति परभव में कही है उसका पाठ इस प्रकार है:—

"नो इंदिओ उवउत्ता उववज्जंति" नो इन्द्रियं मनः तत्र च यद्यपि मनःपर्याप्त्यभावे द्रव्यमनो नास्ति तथापि भावमनसश्च चैतन्य स्वरूपस्य सदा भावात्, तेनोपयुक्तानामुत्पत्तेः नो इन्द्रियोपयुक्ता उत्पद्यन्ते इत्युच्यते ।"

—जीव मन सहित परभव में उत्पन्न होता है। उसमें यद्यपि मनःपर्याप्ति के अभाव में द्रव्य मन नहीं है, तथापि चैतन्यस्वरूप भावमन सर्वदा होने से भावमन सहित उत्पत्ति होने के कारण मन सहित उत्पन्न होता है।

प्रश्न १३७—"सव्वजीवाणं पियणं अक्खरस्स अणंतो भागो निच्चुग्घाडिओ" शास्त्र के इस वचन से समस्त जीवो के अक्षर का अनन्त भाग सर्वदा अनाच्छादित रहता है। इस सैद्धान्तिक वचन से कहे गये "अक्ष " का क्या अर्थ है ?

उत्तर— मुख्यतया अक्षर शब्द से यहाँ केवलज्ञान अर्थ लेना चाहिये और प्रसंगवश मतिज्ञान एवं श्रुत ज्ञान का भी अर्थ वोध होता है। बृहत्कल्पवृत्ति में अक्षर श्रुताधिकार में तथा नन्दीसूत्र की वृति के श्रुतज्ञान अधिकार में इसी प्रकार कहा है।

तथा च तावद् बृहत्कल्प वृत्ति पाठः—उक्तं सर्वाऽऽकाश-प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणं ज्ञानम् ।

वृहत्कल्पवृति में कहा है कि समस्त आकाश प्रदेशों से भी ज्ञान अनन्त गुना है।

अब वह 'ज्ञान' अक्षर कैसे कहलाता है यह बताया जाता है।

णाणं तु अक्खरं जेण खरदि ण कयाइ तं तु जीवा ।
तो तस्स उ अणंत भागो न णिरुब्भइ सव्व जीवाणं ॥

जिस कारण से वह ज्ञान कभी भी जीव से पृथक नहीं होता है न क्षर (क्षय) होता है उसी कारण से ज्ञान को अक्षर कहा जाता है यथा — (न क्षरति इति अक्षर)

शंका—ज्ञान जीव से कभी भी पृथक् नहीं होता यह कैसे जाना जा सकता है ?

समाधान—इस अक्षर (ज्ञान) का अनन्तवा भाग संसारस्थ समस्त जीवों के अत्यन्त प्रबल ज्ञानावरण के उदय से भी आच्छादित नहीं होता ।

जिसस ज्ञान का अनन्त भाग नित्य उद्घाटित है अर्थात् नित्य अनावृत (अनाच्छादित) है वह किससे आच्छादित होता है ? इस सम्बन्ध से पुन कहा है । कि—

इक्केक्को चिय देसो णाणावरणस्स हुंति तस्स णेहि ।
अविभागेहि अणंतो सव्वजियाणं जिणे भणिदं ॥

—वे इन उक्तियों को छोड़कर संसारी समस्त जीवों के आत्म प्रदेश, ज्ञानावरणीय कर्म के अनन्त अविभाग परिच्छेदों से आच्छादित है ।

यदि ऐसा है तो ज्ञान का अनन्त भाग नित्य अनावृत रहता है, ऐसा कैसा कहा गया है इस सम्बन्ध में समाधान इस प्रकार है —

जइ पुण सो वि रिज्जइ तेण जीवो अजीवदं गच्छे ।
सुट्ठु वि मेहसमुदये होइ पहा चंद सूराणं ॥

—जैसे सघन बादलों के आने पर भी उस प्रकार के अपने स्वभाव से चन्द्र सूर्य की प्रभा तो रहती ही है उसी प्रकार जीव के एक एक प्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म के अनन्त अविभक्त परिच्छेदों से आच्छादित होने पर भी उस प्रकार के अपने स्वभाव से ज्ञान का अनन्तवां भाग सर्वदा अनाच्छादित ही रहता है। यदि वह भी आच्छादित हो जाय तो एकान्ततः निश्चेतन होने से जीव घट के समान अजीवत्ता को प्राप्त कर लेता है।

शंका—पृथ्वी काय आदिका ज्ञान सर्वथा आच्छादित रहता है तो ज्ञान का अनन्तवां भाग सर्वदा अनाच्छादित रहता है, यह कैसे हो सकता है?

समाधान—

अव्वत्तमक्खरं पुण पंचण्ह वि थीणगिद्धिसहिएणं।
नाणावरणुदएणं विंदिय साईकमविसोही ॥

—पृथ्वी काय से लेकर वनस्पतिकाय तक के पांच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के थीणद्धि निद्रा सहित ज्ञानावरणीय उदय से सुप्त मदोन्मत्त एवं मूर्च्छित आदि के समान अक्षर-ज्ञान, अव्यक्त-अस्पष्ट होता है। इससे उनमें भी सर्वथा ज्ञान आच्छादित नहीं होता। उसमें भी पृथ्वी काय के जीवों का ज्ञान अतीव अव्यक्त होता है। उससे भी बढ़कर अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय एव वनस्पति काय के जीवों का अनुक्रम से अधिकाधिक विशुद्ध होता है। उसके पश्चात् अनुक्रम से द्वीन्द्रिय आदि जीवों के ज्ञान की विशुद्धि वहां तक होती है, जहां तक अनुत्तरोपपातिदेवों की व उससे भी बढ़कर चतुर्दश पूर्वियों के ज्ञान की विशुद्धि अधिक रूप में होती है। यह चूर्णिकार का मत है।

कहा भी है —

तं चिय निसुज्जमाणं निंदियमाडिक्कमेण विन्नेय,
जा होंति सुत्तरसुग सव्वानिशुद्दं तु पुव्वधरे ॥

इस गाथा का ही अर्थ ऊपर दिया गया है।

यहा यद्यपि प्रथम सर्वाकाश प्रदेशो से अनन्त गुना अक्षर ज्ञान कहा है, जो केवल ज्ञान की अपेक्षा मे कहा गया है, एव उसी का अनन्त भाग सर्वदा अनावृत रहता है, तथापि केवल ज्ञान के समान श्रुतज्ञान का अनन्त भाग अनावृत रहता है। इसलिये अन्त मे अक्षरश्रुत कहा ऐसी योजना की है।

नन्दी वृत्ति का पाठ इस प्रकार है —

यथाः—"तथा च याकारादिक सर्वद्रव्य परिमाण तथा मत्यादीनि अपि ज्ञानानि द्रष्टव्यानि ज्ञानस्य समानत्वात्, इह यद्यपि सर्व ज्ञानम् अविशेषेणाऽक्षर-मुच्यते सर्वद्रव्य परिमाण भवति। तथापि श्रुताधिकाराद् इह अक्षर श्रुतज्ञानम् अवसेयं, श्रुतज्ञान च मतिज्ञानाऽविना भूत ततो मतिज्ञानमपितदेवं यत् श्रुत ज्ञानमकारादिक चोत्कर्षतः सर्व द्रव्य पर्याय परिमाण तच्च सर्वोत्कृष्ट श्रुतकेवलिनो द्वादशाङ्ग-विदः सम्पद्यते न शेषस्य, ततोऽनादिभावः श्रुतस्य जन्तूना जघन्यो मध्यमो वा द्रष्टव्यो न तु उत्कृष्ट इति स्थितम्। अपर आह—

ननु अनादि भाव एव श्रुतस्य कथं उपपद्यते यावता यदा प्रबल श्रुतज्ञानावरण स्त्यानर्द्धि निद्रारूप दर्शनावरणोदयः सम्भवति तदा सम्भाव्यते साकल्येन श्रुतस्याऽऽवरणं, यथाऽवध्यादि ज्ञानस्य ततोऽवध्यादि ज्ञानमिव आदिमदेव युज्यते श्रुतमपि नाऽनादिमदिति कथं, तृतीय चतुर्थभङ्ग सम्भवः? अत आह—"सव्वजीवाणंपि" इत्यादि सर्वजीवानामपि णमिति वाक्यालङ्कारेऽक्षरस्य श्रुत ज्ञानस्य, श्रुतज्ञानं च मतिज्ञानाऽविनाभावि, ततो मतिज्ञानस्यापि अनन्तभागो अनन्ततमो भागो नित्यो-द्घटितः सर्व दैवाऽप्रावृतः, सोऽपि च अनन्ततमो भागो-ऽनेकविधस्तत्र सर्व जघन्यश्चैतन्यमात्रं तत्पुनः सर्वोत्कृष्ट श्रुतावरण स्त्यानर्द्धि निद्रोदयभावेऽपि नाव्रियते तथा जीवस्व भावात् तथा च आह—"जईत्यादि" यदि—पुनः सोऽपि अनन्ततमो भागोऽपि आव्रियते तेन तर्हि जीवः—अजीवत्वं प्राप्नुयाद्, जीवो हि चैतन्यलक्षणः ततो यदि प्रबलश्रुतावरण स्त्यानर्द्धि निद्रोदयभावे चैतन्यमात्र मपि आव्रियते तर्हि जीवस्य स्वभाव परित्यागेन अजीवतैव संपनीपद्येत न चैतद् दृष्टमिष्टं वा सर्वस्य सर्वदा स्वस्व-भावाऽतिरस्कारात् तत्रैव दृष्टान्तमाह—"सुट्ठुवित्यादि" सुष्ठु अपि मेघसमुदये भवति प्रभा चन्द्रसूर्ययोः इयमत्र भावना यथा निबिडनिबिडतर मेघ पटलैराच्छादितयोः सूर्यचन्द्रमसो

नैकान्तेन तत् प्रभानाशः सम्पद्यते सर्वस्य सर्वथा स्व-भ वापनयस्य कर्तु म् अशक्यत्वात् । एवम् अनन्तानन्तैरपि ज्ञानदर्शनावरण कर्मपरमाणुभिरेकैकस्यापि आत्मप्रदेश-स्यावेष्टित परिवेष्टितस्यापि नैकान्तेन चैतन्यमात्रस्याभावो भवति, ततो यत्सर्वजघन्य तन्मति श्रु तात्मकम् अतः सिद्धोऽक्षरस्यानन्ततमो भागो नित्योद्घाटितः ।" तथा च सति मतिज्ञानस्य श्रु तज्ञानस्य चानादिभाव प्रतिपद्य-मानो न विरुध्यते इति स्थितम् ।

जिस प्रकार सर्व द्रव्य पर्याय का परिणाम वाला श्रु तज्ञान है, उसी प्रकार मति आदि ज्ञान भी जानना चाहिये । क्योकि इनमे न्याय की समानता है । यहा यद्यपि सामान्यतया सर्वज्ञान 'अक्षर' कहलाता है, और वह सर्व द्रव्य पर्याय का परिणाम वाला होता है, तथापि यहाँ श्रुत ज्ञान का अधिकार होने मे 'अक्षर' अर्थात् श्रुतज्ञान ऐसा जानना चाहिये । एव श्रु तज्ञान मतिज्ञान के बिना नही होता, इसलिये मतिज्ञान को भी उतने ही परिणाम वाला जानना चाहिये । उससे इस प्रकार जो अकारादिक श्रु त ज्ञान उत्कृष्ट से सर्व द्रव्य पर्याय परिणाम वाला है, वह सर्वोत्कृष्ट श्रु त ज्ञानी जैसे द्वादशाङ्ग के ज्ञाताओ को घटित होता है, दूसरो को नही । इसलिये प्राणियो का जो श्रुत ज्ञान अनादिकाल का कहा है, उसको जघन्य अथवा मध्यम जानना चाहिये, उत्कृष्ट नही ।

शका—यहा कोई अन्य कहते है कि—श्रुत ज्ञान अनादिकाल का ही है यह कैसे घटित होता है ? जैसे जब प्रबल श्रु त ज्ञानावरण एव थिणद्धि निद्रारूप दर्शनावरण का उदय होता

है तो सम्पूर्णता से श्रुतज्ञान के आवरण की सम्भावना रहती है एवं जिस प्रकार अवधि आदि ज्ञान का सम्पूर्ण आवरण होता है उसी प्रकार उसी अवधि आदि ज्ञान के समान श्रुत ज्ञान भी आदिकाल वाला होना चाहिये, अनादिकाल वाला नहीं। इस दृष्टि से तृतीय चतुर्थ भङ्ग की सम्भावना कैसे हो सकती है ?

समाधान—"सव्वजीवाणं पि" इत्यादि वचन से समस्त जीवों का मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान का अनन्तवां भाग सर्वदा अनावृत ही रहता है। यह अनन्तवां भाग अनेक प्रकार का होता है। सर्व जघन्य चैतन्य मात्र, सर्वोत्कृष्ट श्रुतज्ञानावरण एवं थिणद्धि निद्रोदय के समय भी आच्छादित नहीं होता है। क्योंकि वैसा ही जीव का स्वभाव होता है। और यदि वह अनन्तवां भाग भी उससे आच्छादित हो जाय तो जीव के स्वभाव का त्याग होने से अजीवत्व प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जीव चैतन्य लक्षणवाला है इसीसे प्रबल श्रुत ज्ञानावरण एवं थिणद्धि निद्रोदय के समय चैतन्य मात्र भी आच्छादित हो जाय तो जीव के स्वभाग का परित्याग होने के कारण अजीवता ही प्राप्त होती है। यह कभी भी न देखा न इष्ट हो है कि प्रत्येक वस्तु अपना स्वभाव छोड़ देती हो। इस सम्बन्ध में दृष्टान्त कहते है कि "सुट्ठुवित्यादि"—सघन बादल आसमान में छा जावें तो भी चन्द्र सूर्य की प्रभा तो रहती ही है। यहां यह कहना है कि जिस प्रकार अत्यन्त सघन बादलों से सूर्य चन्द्र की प्रभा का एकान्ततः नाश नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का अपना स्वभाव दूर होना सर्वथा अशक्य है, उसी प्रकार जीव के एक एक प्रदेश अनन्तानन्त ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के परमाणुओं से अत्यन्त आवृत हो जावें, फिर भी उनमें एकान्ततः चैतन्य मात्र का

अभाव नही होता है । इस कारण से जो सर्वजघन्य चैतन्य मात्र है वह मति-श्रुत रूप है। अत अक्षर का अनन्तवा भाग सर्वदा अनाच्छादित होता है, यह सिद्ध हो गया एव ऐसा होने से मतिज्ञान श्रुतज्ञान अनादिकाल के है इसमे भी कोई विरोध उत्पन्न नही हो सकता यह भी सिद्ध है।

प्रश्न १३६ – केवली भगवान् केवलज्ञान के द्वारा सर्व द्रव्य एव सर्वपर्यायो को प्रति समय साक्षात् जानते हैं, परन्तु केवल ज्ञान सम्बन्धी जिस स्वभाव से एक पर्याय को जानते है, क्या उसी स्वभाव से दूसरे पर्यायो को जानते है ? या अन्य स्वभाव से जानते है ?

उत्तर — दूसरे पर्यायो को भिन्न स्वभाव से ही जानते है। उस स्वभाव से नही । अन्यथा दोनो पर्यायो मे एकत्व का प्रसग आजाता है। इसलिये जितने जानने योग्य पर्याय हैं उतने ही उन पर्यायो का ज्ञान करानेवाले केवलज्ञान के स्वभाव जानना चाहिये । जैसा कि नन्दीसूत्र वृत्ति मे कहा है —

"यावन्तो जगति रूपि द्रव्याणां ये गुरुलघुपर्याया-स्तान् सर्वानपि साक्षात् करतल कलितमुक्ता फलंवत् केवलाऽऽलोकेन प्रतिक्षणम् अवलोकते भगवान् । न च येन स्वभावेन एक पर्य्याय परिच्छिन्नत्ति तेनैव स्वभावेन पर्य्यायान्तरामिति तयोः पर्य्याययोः एकत्व प्रसक्तेः॥"

इस पाठ का अर्थ ऊपर की पक्तियो मे दे दिया है।

घट के पर्याय को जानने के स्वभाव वाला जो ज्ञान है, वह जब पट के पर्याय को जानने के लिये समर्थ होता है तो पट पर्याय को भी घट पर्यायरूपता की आपत्ति होती है, अन्यथा घटपर्याय को जानने वाला ज्ञान पट पर्याय को नहीं जान सकता। क्योंकि उसका वैसा स्वभाव है। इसलिये जितने जानने योग्य पर्याय हैं उतने ही उनको ज्ञान कराने वाले केवल ज्ञान के स्वभाव जानना चाहिये एवं जितने स्वभाव है उतने ही पर्याय होते हैं। इसी कारण से पर्यायों की अपेक्षा से सर्व द्रव्य एवं सर्व पर्याय के परिणाम युक्त केवल ज्ञान को कहा है।

शंका—अकारादि श्रुतज्ञान एवं केवल ज्ञान के पर्यायों का परिणाम समान होता है अथवा न्यूनाधिक होता है ?

समाधान:—

दोनों के पर्यायों का परिणाम समान ही होता है। केवल स्व एवं पर पर्याय रूप विशेषता है। जैसा कि नन्दीसूत्र वृत्ति में कहा है:—

"पर्याय परिमाण चिन्तायां परमार्थतो न कश्चिद् अकारादि श्रुतकेवलज्ञानयोर्विशेषः । अयं तु विशेषः, केवल ज्ञानं स्वपर्य्यायैरपि सर्वद्रव्य परिणाम तुल्यम्, अकारादि तु स्वपर पर्य्यायैरेवेत्यादि ॥"

—पर्याय परिणाम की विचारणा में वास्तविक रीति से अकारादि श्रुत ज्ञान एव केवल ज्ञान का कोई भेद नही है। मात्र इतनी विशेषता है कि केवल ज्ञान स्वपर्यायों से सर्वद्रव्य के परिणाम जितना है एवं अकारादि श्रुतज्ञान स्व एवं पर पर्यायों से सर्व द्रव्य पर्यायों के परिणाम जितना है।

प्रश्न १३९—विजय वैजयन्त, जयन्त एव अपराजित इन चारो विमानो मे उत्पन्न जीव वहा से च्यवकर (गिरकर) मनुष्य भव को प्राप्त करके (मरने के बाद) नैरयिक, भवनपति, तिर्यक्, व्यन्तर, एव ज्योतिषी देवो मे उत्पन्न होते हैं या नही ?

उत्तर — विजयादिक विमानो से अवतरित होकर मनुष्य भव समाप्त करने के बाद जीव ऊपर बताये हुए स्थानो मे तो नही जाते है, परन्तु सौधर्मादि देवलोको मे जाते हैं। ऐसा श्री प्रज्ञापना सूत्र वृत्ति के पन्द्रहवें इन्द्रिय पद मे कहा है —

यथा:—इह विजयादिषु चतुर्षु विमानेषु गतो जीवो नियमात् तत उदवृत्तो न जातु कदाचिदपि नैरायिकादिषु पञ्चेन्द्रिय तिर्यक् पर्यवसानेषु तथा व्यन्तर ज्योतिष्केषु च मध्ये समागमिष्यति, मनुष्येषु सौधर्मादिषु चागामेष्यतीति ।"

इसका अर्थ उत्तर मे दे दिया गया है।

प्रश्न १४०—भरत चक्रवर्ती का जीव निगोद आदि मे से निकल कर कितने भवो मे मोक्ष को गया तथा सम्यकत्व प्राप्त कर जो कभी भी वमन नही करता है, अर्थात् जिसका कभी पतन नही होता है। वह कितने भवो मे मोक्ष को प्राप्त होता है ?

उत्तर — भरत चक्रवर्ती का जीव सात आठ भव करके मुक्ति को प्राप्त हुआ है, ऐसा सम्भव है।

—हे भगवन्त ! सूक्ष्म निगोद में सूक्ष्म निगोद होकर जीव कि कितने काल तक रहता है ?

हे गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त एवं उत्कृष्ट से असंख्येय काल-असख्याति उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तक रहता है।

संग्रहणी वृत्ति में भी "गोला य असंखेज्जा" इत्यादि गाथा के द्वारा यही अर्थ जानना चाहिये।

प्रश्न-१४२ जिनकी रोमावली से रत्नकम्बल वस्त्र उत्पन्न होता है वे मूषक अग्नि में उत्पन्न होते है। इसीलिये उसकी वस्त्र की मलिनता उसको अग्नि में डालने से स्वच्छ होती है ऐसी उक्ति सुनी जाती है। क्या यह सत्य है ? मूषक की उत्पत्ति अग्नि में होती है, ऐसा किसी शास्त्र में कहा है या नही ! तथा किसी के पेट में गृह कोकिला उत्पन्न होती है ऐसा भी सुना जाता है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर अनुयोग द्वार वृत्ति में आवश्यक निक्षेप अधिकार है, उसमें अग्नि में मूषक की उत्पत्ति कही है। उसका यह पाठ है:—

"इष्ट का पाकाद्यग्निर्मूषिकावास इत्युच्यये तत्र हि अग्नौ किल मूषिकाः सन्मूर्च्छन्तीनि"

—ईंटों के पकाने की अग्नि, मूषकों का आवास है ऐसा कहा जाता है।

तथा पेट में गृहकोकिला की उत्पत्ति का कारण निशीथ चूर्णि में कहा है। उसका पाठ इस प्रकार है:—

"गिहकोइल अवयवसंमिस्सेण भुत्तेण पोट्टे किल गिह को इला संमुच्छंति त्ति।"

—गृह कोकिला के अवयव मिश्रित भोजन से पेटगृह-कोकिला उत्पन्न होती है।

प्रश्न—१४३ कतिपय आधुनिक पाखण्डी निन्हव ऐसा कहते हैं कि अभयकुमार के द्वारा भेजे गये रजोहरणादि के दर्शन से आर्द्रकुमार प्रतिबोध को प्राप्त हुआ था। यह वचन आगम के अनुसार है या आगम विरुद्ध है?

उत्तर यह वचन आगम विरुद्ध ही जानना चाहिये। उत्सूत्र भाषी के अतिरिक्त अन्य कौन इस प्रकार स्वकपोल कल्पित सूत्र विरुद्ध वचन कहने का साहस कर सकता है। क्योंकि सूत्र में, साक्षात् एकान्त में जिन प्रतिमा को देखकर आर्द्रकुमार ने प्रतिबोध प्राप्त किया था, ऐसा कहा है। इस सम्बन्ध में सूत्रकृताङ्ग सूत्र के आर्द्रकीय अध्ययन की निर्युक्ति का जो पाठ है, वह इस प्रकार है—

यथाः—"संवेग समावन्नो मायी भत्त चइत्तु दिय लोए।
चउऊणं अद्दहरे अद्दगुओ अद्दओ जाओ ॥६३॥
पीतो दोण्हउ दूओ पुच्छणं अभयस्स पट्ठवे सो वि।
तेण वि सम्मदिट्ठित्ति होज्ज पडिमा रहस्स गयं ॥६४॥
दट्ठु संबुद्धो रक्खिओ य आसाणं वाहण पलाओ।
पव्वइय तो धरिओ रज्जं न करेइ को अण्णो ॥६५॥

— आर्द्रकुमार का जीव पूर्व भव में वसन्तपुर में सामायिक नाम का खेडूत था। उसने अपनी पत्नी के साथ दीक्षा ली। एक समय गोचरी जाते हुए दोनों मिल गये। पत्नी को देख

कर सामायिक उस पर अनुरागी हो गया । यह बात जान कर उसकी पत्नी, जो साध्वी थी, वह अनशन करके स्वर्ग में गई। यह जानकर मायावी उस सामायिक को वैराग्य हो गया एवं अनशन करके वह देव लोक में गया। वहाँ से अवतरित होकर आर्द्रपुर में आर्द्रक राजा का आर्द्रकुमार पुत्र हुआ। उस आर्द्रक राजा की राजगृह के राजा श्रेणिक के साथ मित्रता थी, जिसके कारण पारस्परिक भेंट आदि वस्तुओं के आदान प्रदान के प्रसग में एक समय आर्द्रक राजा ने भट भेजी। उस समय आर्द्रकुमार ने भी अभयकुमार के लिये उपहार भेजा । उससे अभयकुमार ने विचार किया कि यह भवी जीव है, इसलिये मेरी मित्रता चाहता है। अतएव उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति हो इस दृष्टि से उसने एकान्त में जिन प्रतिमा भेजी। उसको देखकर आर्द्रकुमार प्रतिबोध को प्राप्त हुआ एवं विषयों से विरक्त हो गया। उसको विरक्ति को देखकर कहीं यह भग न जाय इस दृष्टि से उसके पिता ने उसके ऊपर ५०० राजकुमारों का नियन्त्रण करवा दिया। इतना नियन्त्रण होते हुए भी अश्वक्रीडा के बहाने वहां से भाग कर एवं आर्य देश में आकर आर्द्रकुमार ने दीक्षा ले ली। उस समय आकाश वाणी हुई कि—"तेरे अभी बहुत भोगावली कर्म शेष हैं "

इस प्रकार देवताओं द्वारा रोकने पर भी "मेरे अतिरिक्त दूसरा कौन राज्य नही करता है ।" ऐसा कहकर देवता के वचनों की अवगणना करते हुए उसने चारित्र ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार इस पाठ से यह ज्ञान होता है कि आर्द्रकुमार जिन प्रतिमा के दर्शन से ही प्रतिबोध को प्राप्त हुए थे।

निर्युक्ति का यह वचन सूत्र वचन नही है, ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि श्रुत केवली श्री भद्राबाहु स्वामी के द्वारा निर्युक्ति की रचना हुई है, अत. यह सूत्र जैसी ही है।

"सुयकेवलिणा रइयमिति" वचनात्।

और भी श्री भगवती सूत्र के अनुयोग-द्वार मे भी कहा है।

यथाः—सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ निज्जुत्ति मीसिओ भणियो। तइओ य निरवसेसो एस विही होइ अणुओगे ॥"

इत्यादि वचन से निर्युक्ति भाष्य चूर्णि आदि प्रमाणो कृत है। इसलिये जो इनके वचनो को नहीं मानते हैं वे सूत्र के उत्थापक हैं, ऐसा जानना चाहिये।

प्रश्न १४४—आधुनिक कुछ पाखण्डी गृहस्थो को भी अ गोपाग आदि सिद्धान्तो का पाठ पढाते है। यह जिनेश्वर की आज्ञा के अनुसार है या विरुद्ध है?

उत्तर — यह कृत्य जिनेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध ही है, ऐसा जानना चाहिये क्योकि निशीथ सूत्र के उन्नीसवे उद्देशक मे गृहस्थो को सूत्र वाचन के लिये निषेध कहा है।

इस सम्बन्ध का वह पाठ इस प्रकार है—

यथाः—जे अण्णउत्थियं वा गारत्थिय वा वाएत्ति वायं तं वा साइज्जति से आवज्जति चाउम्मासियं परिहारट्ठाण उग्घाइय ॥"

जो अन्य तीर्थियों एवं गृहस्थों को वाचना देते हैं (अर्थात् सूत्र पाठ पढ़ाते हैं) अथवा उनको सहायता देते है। उनको चातुर्मासिक परिहारस्थान उद्घातिक प्रायश्चित आता है।

इसीलिये श्री अरिहन्त भगवन्त के चरणों में, श्रावकों के वर्णन में प्रतिपद "लद्धट्ठा गहियट्ठा" अर्थ प्राप्त किया. (अर्थ ग्रहण किया) इत्यादि पाठ ही देखने में आता है, परन्तु सूत्र का अध्ययन किया ऐसा पाठ नही देखा गया।

यदि ऐसा है तो दशवैकालिक सूत्र भी श्रावकों को नहीं पढ़ाना चाहिये ? इसका उत्तर देते हुए कहते है कि श्रावकों को दशवैकालिक सूत्र के षड्जीवनिकाय नामक चतुर्थ अध्ययन तक ही पढ़ाना चाहिये, शेष छः अध्ययन नही पढ़ाना चाहिये। आवश्यक चूर्णि में कहा है कि—

"श्रावकाणां" जहन्नेणं अट्ठपवयण मायाओ उक्कोसेणं छज्जीवणिया सुत्तओ अत्थओ वि पिंडेसणं न सुत्तओ अत्थओ पुण उल्लावेणं सुणइत्ति।"

—श्रावकों को जघन्य से अष्ट प्रवचन माता एवं उत्कृष्ट से षट्जीवनिकाय अध्ययन तक पढ़ाना चाहिये। पिण्डेषणा अध्ययन अर्थ से पढ़ाना, परन्तु सूत्र से नहीं। अर्थ भी वे केवल सुनें।

अन्यत्र भी कहा है कि दशवैकालिक को षड्जीव निकाय से पूर्व या पश्चात् जो श्रावकों को पढाता है वह अपने मन से कल्पित कदाचरण वाला होता है।

प्रश्न १४२—श्री महावीर स्वामी का अम्बड नाम का एक श्रावक था वह जाति मे ब्राह्मण था या क्षत्रिय ? तथा उसमे जो विविध रूप करने का सामर्थ्य था वह तपस्या से उत्पन्न वैक्रियलब्धि आदि के बल से था या प्रसन्न हुए किसी देवता के द्वारा दत्त विद्यावल से था ? और आगामी चतुर्विंशतिका मे तो तीर्थङ्कर होने वाला है वह अम्बड कौन है ?

उत्तर — यहा शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर तो यह ज्ञात होता है कि श्री महावीर स्वामी के अम्बड़ नाम के दो श्रावक हुए ऐसा सम्भव है ? इस सम्बन्ध मे औपपातिक उपाङ्ग मे कहा है कि वीर स्वामी का श्रावक अम्बड़ परिव्राजक जाति से ब्राह्मण था। तथा छट्ठ, अट्ठम आदि की अधिक तपस्या से उसको अवधि ज्ञान एव वैक्रियलब्धि आदि उत्पन्न हो गई थी। उसके ७०० शिष्य थे। अन्त मे वह अनशन से ब्रह्मलोक को गया व वाद में वह महाविदेह क्षेत्र में मोक्ष को प्राप्त करेगा। इस सम्बन्ध मे कहा भी है कि—

"तत्थ खलु इमे अट्ठ माहण परिव्वायगा भवंति सं जहा-कण्हे य १ करकंडेय २ अंबडे ३ परासरे ४ कण्हे ५ दीवायणे ६ चेव देवगुत्ते य ७ नारए ८।"

इत्यादि सूत्र की विवेचना सूत्र से ही जानना चाहिये विवेचन अधिक होवे के कारण यहा नही लिखा जाता है।

श्री मुनि रत्न सूरिकृत अम्वड चरित्र में तो ऐसा कहा है कि—

रथपुर में रहने वाला अम्वड़ नाम का राजा जाति से क्षत्रिय था। उसको सांख्य मत की गोरख योगिनी ने सात देश दिये थे। उसके बत्तीस सुन्दर स्त्रियां थी एवं विशाल राज्य की समृद्धि वाला था। उसको प्रसन्न हुए सूर्यादि देवों ने अनेक विद्याएं दी थी। कुछ समय बाद श्री कोशी गुरु के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्त कर उसने उन्हीं के वचन से श्री महावीर प्रभू की चरण सेवा प्राप्त की थी, परन्तु मन की शिथिलता के कारण उसने १८ वार सम्यक्त्व छोड़ा और स्वीकार किया था। इसके पश्चात्, श्री वीर प्रभु के द्वारा बनाई गई सुलसा श्राविका की दृढ़ता को देखकर उसका सम्यक्त्व अत्यन्त दृढ़ हो गया एवं उसके फलस्वरुप अपने पुत्र को राज्य देकर अनशन से मृत्यु को प्राप्त हुए वह स्वर्ग में चला गया। दूसरे अम्बड़ चरित्र में यही अम्वड़ राजा आगामी चतुर्विंशतिका में तीर्थङ्कर होगा, ऐसा कहा है।

स्थानाङ्ग वृत्ति में भी दो अम्बड़ श्रावकों की सम्भावना की है, परन्तु उसमें अम्वड परिव्राजक को ही सुलसा परीक्षक कहा है और वही भावी तीर्थङ्कर जीव है तत्व तो केवली या बहुश्रुत ही जानते हैं। यहां तो जो है, वही प्रमाण वस्तु है।

प्रश्न १४६—शास्त्रों में जो नौ प्रकार के पाप निदान (निर्माण) कहे हैं वे कौन कौन से हैं ?

उत्तर— (१) भवान्तर में मैं राजा बनूं ऐसी प्रार्थना करना यह प्रथम निदान है।

(२) बहु व्यापार एवं राज्य होने पर भी मैं समृद्धि-

मान् गृहस्थी बनू, ऐसी प्रार्थना करना यह द्वितीय निदान है।

(३) पुरुष के विविध कष्टों को देखकर मैं स्त्री बनू ऐसी प्रार्थना तृतीय निदान है।

(४) स्त्री के परवशतादि कष्ट को देखकर मैं पुरुष बनू ऐसी प्रार्थना करना चतुर्थ निदान है।

(५) मनुष्य सम्बन्धी विषयो की अशुचिता से देव सम्बन्धी अधिक विषयो की प्रार्थना करना यह पञ्चम निदान है।

(६) जो देव, स्व एव पर देव देवी के सेवन में तथा अपने द्वारा विकुर्वित देव देवी के सेवन मे आसक्त है, वे बहुत (अधिक आसक्त) कहलाते हैं। एव जो देव स्वयमेव देवत्व एव देवीत्व के द्वारा विकुर्वित होकर सेवन करते हैं परन्तु दूसरो को नहीं वे स्वरत कहलाते हैं। इसके सम्बन्ध का निदान करना षष्ठ निदान है।

(७) ऊपर कहे गये इन छः निदानो के करने वाले भवान्तर में दुर्लभ बोधि होते हैं। इससे जो देव अमैथुन हैं वे अरत कहलाते हैं। इस सम्बन्ध मे निदान करना सप्तम निदान है।

(८) ऊपर कहे गये १ बहुरत २ स्वरत ३ अरत ये तीनो देव के भेद हैं। भवान्तर में मैं साध

को वहोराने वाला श्रावक बनूं ऐसी प्रार्थना करना अष्टम निदान है।

(९) व्रत की आकांक्षा से मैं दरिद्र श्रावक बनूं ऐसी प्रार्थना करना नवम निदान है।

ऊपर कहे गये नव नियाणों में अन्तिम तीन नियाण क्रम से सम्यक्त्व, देशविरति एवं सर्वविरति को देने वाले है, परन्तु मोक्ष देने वाले नही हैं। यह सारा विवेचन पाक्षिक सूत्र की वृत्ति में कहा है। दूसरे स्थान पर भी कहा है कि–

निव सिट्ठि इत्थि पुरिसे परप वियारे य स परियारे य।
अप्पसुख सड्ढदरिद्दे हुज्जा नवनियाणाइ त्ति॥"

शंका–राज्य आदि प्रार्थना के समान तीर्थङ्करत्व एवं चरमदेहित्व की प्रार्थना भी दुष्ट है कि नहीं?

समाधान–तीर्थङ्करत्वादि के लिये भी प्रार्थना न करना ऐसा भगवान श्री महावीर ने कहा है। निदान में तो समस्त वस्तुओं के विषय में भी अपवाद नहीं है साधुओं के लिये निदान का निषेध ही है। वृहत्कल्प वृत्ति में कहा है। इसी तीर्थङ्करत्वादि की प्रार्थना करना भी साधुओं के लिये युक्त नही है।

सर्व कर्म के क्षय से मेरा मोक्ष हो ऐसी भावना भी क्या निदान है? सत्यमेव यह भी निश्चय नय से निषिद्ध ही है। क्योंकि–"मोक्षे भवे च सर्वत्र निःस्पृहो मुनि सत्तमः।" अर्थात् उत्तम मुनि मोक्ष या संसार में सर्वत्र सर्वथा निःस्पृह होते हैं; ऐसा कहाहै। तथापि भावना में अपरिणत सत्व को अंगीकार करके व्यवहार से यह दुष्ट नहीं है।

आवश्यक वृहद्वृत्ति के ध्यान शतक अधिकार मे एव योग शास्त्र को वृति मे कहा है कि--"जयवीयराय" इत्यादि यह प्रणिधान निदान रूप नही है क्योकि प्राय यह आसक्ति-रहित अभिलाषा रूप है ।

यह सब अप्रमत्त सयत नाम के सप्तम गुणस्थान की प्राप्ति न हो वहा तक करना चाहिये । अप्रमत्त सयतादि को तो मोक्ष मे भी अभिलाषा नही होती इस सम्बन्ध मे और अधिक जानने के लिये पूजा पचाशक की टीका देखनी चाहिये ।

प्रश्न १४७--दूसरे पुरुष के समान तीर्यङ्करो के पुरुष चिन्हादि देखने मे आते हैं कि नही ?

उत्तर-- अत्यधिक गुप्त होने से गज एव अश्वादि के समान देखने मे तो प्राय करके आते नही हैं । यहा प्राय करके ऐसा कहने से गृहस्थरूप मे साधारण तथा दृष्टि पथ मे आने पर कोई दोष नही है ।
योगशास्त्र की वृत्ति के प्रथम प्रकाशमे कहा है कि--

स्वामिनः कुञ्जरस्येव गुल्फौ गूढौ समस्थितौ ।
अतिगूढ च पु श्चिन्ह कुलीनस्येव वाजिनः ॥३०॥

सिद्धान्त मे भी इस सम्बन्ध मे क्या कही कुछ कहा गया है ? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर मे कहा है कि यह बात औपपातिक उपाग सूत्र की वृत्ति मे कही गई है ।

यथाः--"य तुरग सुजाय गुज्भ देसेति"--

श्रेष्ठ अश्व के समान जिनका गुह्य प्रदेश सुनिष्पन्न है । यह वीर प्रभु के वर्णन अधिकार मे है ।

शंका—यदि ऐसा है तो कतिपय (दिगम्वर) अत्यन्त प्रगट गुह्य प्रदेश वाली जिन प्रतिमाएं कराते हैं वे वन्दनीय है कि नहीं ?

समाधान—प्रथम तो वे भगवन्त की प्रतिमाएं ही नहीं हैं। क्योंकि भगवन्त की प्रतिमाएं भगवन्त के समान अत्यन्त गुह्य प्रदेश वाली होनी चाहिये एवं उनके द्वारा वनवाई गई ये प्रतिमाएं तो साक्षात् गुह्य प्रदेश देखे जा सके, ऐसी है ऐसी स्थिति में कैसे वे वन्दनीय हो सकती है ?

वैसे उत्सूत्र वादियों एवं गृहस्थों द्वारा प्रतिप्ठापित चैत्य अवन्दनीय होते हैं, जैसा कि जिनपति सूरिजी ने प्रवोधोदय में कहा है।

यथा :—

"पौर्णिमासिकादिमत वर्त्तीनि चैत्यानि अवन्द्यान्येव अनधिकारिप्रतिष्ठापित्वात् दिगम्वरादि परिगृहीतवद् इत्यादि ।"

—पौर्णिमासिकादि मत में स्थित चैत्य अनधिकारियों द्वारा प्रतिष्ठापित होने से अवन्दनीय हैं जैसे दिगम्बरादि द्वारा परिगृहीत चैत्य अवन्दनीय होते हैं।

इस प्रकार स्वदर्शन मिथ्यादृष्टि चैत्यवासी आदि से ग्रहण कराई गई प्रतिमाएं भी वर्जनीय ही है।

"कूराभिग्गहिय महामिच्छादिट्ठीहि पावेहिं अहमाहमेहिं नामायरिय उवज्झाय साहुलिंगीहिं जिनघर मढ आवासो पकप्पिओ साय सीलेहिं ।"

इत्यादि महानिशीथ आदि आगम वचनो से—चैत्यवासियो का तथा अन्य का मिथ्यादृष्टित्व प्रतिपादित होता है।

शका—उस प्रकार के बिम्बादि दर्शन से भी किसी को सम्यक्त्वादि की उत्पत्ति होती है तो उनको वन्दन करने के लिए जाने मे क्या दोष है ?

समाधान—द्रव्य लिगियों द्वारा ग्रहण कराये गये चैत्यो मे बिम्बादि के दर्शन से कभी किसी को सम्यक्त्वादि रत्न की उत्पत्ति चाहे होती हो, तथापि "जइविहु समुप्पाओ कस्से वि" इत्यादि वचनो से कल्पभाष्य मे निह्नव के समान उन चैत्यो का वर्जन करना कहा है। अत विवेकी पुरुषो को वहा जाना उचित नही है। यह सारा प्रकरण प्रबोधोदय से सक्षिप्त करके यहा लिखा है। श्री बृहत्कल्पभाष्य की चूर्णि आदि के प्रथम खण्ड मे तो विस्तार से दिया गया है अत विशेषार्थियो को वही से जानना चाहिए।

शका—जिस प्रकार निह्नव आदिको से ग्रहण कराई गई प्रतिमाए अवन्दनीय हैं उसी प्रकार उनके द्वारा रचित स्तोत्र प्रकरणादि सम्यक्दृष्टियो को अग्राह्य हैं कि ग्राह्य हैं ?

समाधान—उनके द्वारा रचित स्तोत्र प्रकरणादि अग्राह्य ही हैं। श्री महानिशीथ सूत्र के चतुर्थ अध्ययन मे कहा है कि—

जे भिक्खु वा भिक्खुणी वा परपासंडीण पसंसं करेज्जा जेयावि णिण्हगाणं पसंसं करेज्जा जेयावि निण्हगाणं अनुकूलं भासेज्जा जेयावि णिण्हगाणं आयवणं पविसिज्जा जेयावि णिण्हगाणं गथं सत्थ पयक्खरं वा परूवेज्जा जेयं णिण्हगाणं सतिए कायकिले साइनवे वा सजमेइ वा

णाणेइ वा विण्णाणेइ वा तुण वा पंडिच्चेइ वा अभिमुहमुद्ध परिसा मज्झगए सिलाहिज्जा से विआणं परिसाहम्मिएसु उववज्जेज्जा ? जहासुमतीति ।"

--जो भिक्षु अथवा भिक्षुणी पर पाखण्डियों की प्रशंसा करते हैं, जो निह्नवों की प्रशंसा करते हैं, उनके अनुकूल वचन बोलते हैं, उनके स्थान में प्रवेश करते हैं, उनके ग्रंथ शास्त्र, पद अथवा अक्षरमात्र की प्ररूपणा करते हैं, उनके पास काय-क्लेश आदि तप करते हैं, संयम लेते हैं, ज्ञान विज्ञान प्राप्त करते हैं, उनके श्रुत ज्ञान या पाण्डित्य का गुणगान करते हैं एवं सम्मुख बैठकर भोले मनुष्यों की सभा में उनकी बिरुदावली (प्रशस्ति गान) करते हैं वे 'सुमति' के समान परम अधार्मिकत्व को प्राप्त करते हैं।

प्रश्न १४८--मनक नामक अपने पुत्र के स्वर्ग में चले जाने पर श्री शय्यम्भवसूरि ने जो अश्रुपात किया था वह हर्ष जन्य था अथवा शोक जन्य ?

उत्तर-- वह अश्रुपात शोक जन्य था ऐसा कुछ महानुभाव कहते हैं, परन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि श्रुतकेवली के समान उन महापुरुष को उस प्रकार के शोक की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है। अहो ! इस बालक ने थोड़े ही समय में आराधना की। ऐसे विचार पूर्वक हर्ष से ही उनके अश्रुपात हुआ था।

श्री दशवैकालिक सूत्र की निर्युक्ति में कहा है कि--

"आणंद अंसुपायं का ही सज्जंभवा तहि थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा य वियारणा संघे ॥"

इसी प्रकार श्री दशवैकालिक सूत्र की वृहद्वृत्ति मे भी कहा है कि —अहो ! इस बालक ने अल्प समय मे ही आराधना की इस कारण से ही श्री शय्यम्भवसूरि का हर्ष हुआ एव हर्ष से ही उनके आसू आये।

प्रश्न १४९—द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव इन चारो मे कौन किससे सूक्ष्मतम है ?

उत्तर— समयात्मक काल सबसे सूक्ष्म है, क्योकि एक बार आख खोलने मे असख्यात समय होते हैं। काल से भी सूक्ष्म क्षेत्र है क्योकि एक अ गुल श्रेणी मात्र क्षेत्र प्रदेशो को समय समय पर एक एक करके निकाला जाय तो असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल पूरा हो जाता है। क्षेत्र से सूक्ष्म द्रव्य हैं क्यों कि एक आकाश प्रदेश मे अनन्तानन्त परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य अवगाहित करके रहते हैं और द्रव्य मे भी सूक्ष्मतम भाव शब्द से वाच्य पर्याय है, क्योकि प्रत्येक परमाणु आदि द्रव्य मे अनन्तानन्त पर्याय होते हैं।

जैसा कि आचाराङ्ग निर्युक्ति वृत्ति एव लोकप्रकाश मे कहा है कि—

निउणो य हवइ कालो तत्तो निउणयरं अ हवइ खित्तं ।
अ गुल सेढी मित्ते ओसप्पिणीओ असखिज्जा ॥

काल वृद्धौ द्रव्यभाव क्षेत्र वृद्धिरसशयम् ।
क्षेत्र वृद्धौ तु कालस्य भजना क्षेत्र सोऽच्यतः ॥
द्रव्यपर्याययोर्वृद्धिरवश्य क्षेत्रवृद्धितः ।

अत्र विशेषो विशेषश्च ज्ञेय आवश्यकादितः ॥

इति तृतीय सर्गे भावना अधिकारे ।

काल सूक्ष्म होता है और उससे सूक्ष्म क्षेत्र होता है। क्योंकि अंगुल श्रेणिमात्र क्षेत्र प्रदेशों को समय समय पर निकालने से असंख्यात उत्सर्पिणी काल पूरा हो जाता है। काल की वृद्धि में द्रव्य भाव एवं क्षेत्र की वृद्धि निश्चित रूप से होती है तथा क्षेत्र की वृद्धि में क्षेत्र की सूक्ष्मता के कारण काल को भजना होती है क्षेत्र की वृद्धि में द्रव्य एवं पर्याय की वृद्धि अवश्य होती है। इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन आवश्यकादि सूत्र से जानना चाहिये।

प्रश्न १५०—केवली भगवन्त के भी तेरहवें गुणस्थानक के अन्त में सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति आदि शुक्ल ध्यान होता है ऐसा कहते है किन्तु ध्यान तो चित्त की एकाग्रता को कहा है और वह केवलियों के सम्भव नही है क्योंकि उनमें भावमन का अभाव होता है ऐसी स्थिति में शुक्ल ध्यान का कहना कैसे संगत हो सकता है ?

उत्तर— शास्त्रों में चित्त की एकाग्रतारूप ध्यान तो छद्मस्थ को आश्रितकर कहा है। केवली भगवान के तो गुणस्थान क्रमारोह सूत्र की वृत्ति में कहा है कि—काया की निश्चलता रूप ही ध्यान होता है, अतः कोई दोष नहीं।

छद्मस्थस्य यथा ध्यानं मनसःस्थैर्यमुच्यते ।
तथैव वपुषः स्थैर्यं ध्यान केवलिनो भवेत् ॥

जिस प्रकार छद्मस्थ के मन की एकाग्रता को ध्यान कहा वैसे ही केवली भगवान के शरीर की स्थिरता ('काय निश्चलता) को ध्यान कहा है यह ध्यान लेशीकरण द्वारा होता है। इसके पश्चात् व शीघ्र अयोगिगुणस्थानक मे जाता है।

आवश्यक भाष्य के अन्तर्गत ध्यान शतक मे भी कहा है कि—

जह छउमत्थस्स मणो झाणं मन्न सुनिच्चलं संत।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भण्णइ झाणं ॥

—जिस प्रकार छद्मस्थ का अत्यन्त निश्चल मन ध्यान कहाता है, उसी प्रकार केवली भगवान् की अत्यन्त निश्चल हुई काया ध्यान कहाता है।

प्रश्न १५१—तत्त्वरूप अर्थ पर श्रद्धा करने को सम्यक्त्व कहते हैं। श्रद्धा अर्थात यह वस्तु ऐसी ही है, ऐसा विश्वास होना यही विश्वास मन की अभिलाषा रूप है। इस प्रकार का विश्वास अपर्याप्त अवस्था मे नही होता परन्तु सम्यक्त्व को तो अपर्याप्त अवस्था मे भी माना है। क्योंकि उसकी उत्कृष्टस्थिति ६६ सागरोपम की कही है। ऐसी स्थिति मे यह लक्षण कैसे घटित होता है ?

उत्तर — तत्त्व रूप अर्थ पर श्रद्धा करना यह तो सम्यक्त्व का कार्य है एव सम्यक्त्व तो मिथ्यात्व मोहनीय क्षय-उपशमादि से उत्पन्न हुए आत्मा का शुभ परिणाम रूप है और यह लक्षण तो मन रहित ऐसे सिद्ध भगवन्तो मे भी व्याप्त रहता है। इसलिये ऊपर कहा हुआ दोष नही हो सकता है।

प्रश्न — अपने शास्त्रों में कहे हुए तत्त्व पर श्रद्धा रखने वाले परपाखण्डियों को जिस प्रकार आभिग्रहिक मिथ्यात्वी कहा है, उसी प्रकार अपने शास्त्रों में कहे हुए तत्त्व पर श्रद्धा रखने वाले जैनों को आभिग्रहिक मिथ्यात्वी क्यों नहीं कहा गया ?

उत्तर — पाखण्डी स्वशास्त्रनियन्त्रित (सीमित) ही विवेक रूप प्रकाश रखते हैं तथा पर पक्ष पर प्रतिक्षेप करने में दक्ष होते है। इसलिये उनको मिथ्यात्वी कहा है, परन्तु धर्म अधर्म के वाद से परीक्षा पूर्वक तत्त्व का विचार कर अपने द्वारा स्वीकृत अर्थ पर श्रद्धा रखने वाले जैनों को पर पक्ष तोड़ने में दक्षता रखने पर भी अभिग्रहिक मिथ्यात्व नहीं लगता है; क्योंकि उनका विवेकरूप प्रकाश स्वशास्त्र से नियन्त्रित नहीं होकर सकल शास्त्र गत होता है। जो जैन अपने कुलाचार से नाम के जैन होने पर भी आगम परीक्षा की अवहेलना करते है अर्थात् अपनी मान्यता को ही आगम मान्यता मानते हैं, वे भी अभिग्रहिक मिथ्यात्वी होते हैं, क्योंकि सम्यग् दृष्टि की आत्मा परीक्षा किये बिना पक्षपात करने वाली नहीं होती।

श्री हरिभद्र सूरिजो ने कहा है कि—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु, ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—मुझे श्री वीर भगवान के ऊपर कोई पक्षपात नहीं एवं कपिल आदि के ऊपर कोई द्वेष नही। जिसका वचन युक्तियुक्त

है मेरे लिये तो वही स्वीकार करने योग्य है। यह सम्पूर्ण प्रकरण धम सग्रह प्रकरण के अनुसार जानना चाहिये।

इस विवेचन से जैनो को चाहिये कि अभिग्रहिक मिथ्यात्व का निराकरण करके सम्यक्त्व का प्रतिपादन एव स्वीकरण करे। इससे जैन अभिग्रहित मिथ्यात्वी नहीं होते अपितु सम्यक्त्वी होते हैं, यह सिद्ध किया है, परन्तु वह क्षायिक औपशमिक एव क्षायोपशमिक यह त्रिविध सम्यक्त्व चारो ही गति मे प्राप्त होता है या नही ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है कि किन्ही लघुकर्मी जीवो को प्राप्त होता है वह इस प्रकार कि (१) नरक गति मे प्रथम तीन नारकी मे तीन प्रकार का सम्यक्त्व रहता है, उसमें क्षायिक तो पारभविक ही होता है, परन्तु वह तादभविक नही होता क्योंकि मनुष्य के समान उसी भव मे नवीन क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। औपशमिक सम्यक्त्व उसी भव का होता है एवं क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दोनो भव का होता है। शेष रही चार नारकी मे क्षायिक सम्यक्त्व होता ही नही है। क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व वाले वे चार नरक पृथ्वी मे उत्पन्न नही होते दूसरे दो सम्यक्त्व होते हैं, यह पूर्वानुसार जानना चाहिये।

२ देवगति मे वैमानिक देवो के तो प्रथम तीन नारकी के तीन प्रकार का सम्यक्त्व होता है, परन्तु भवनपति व्यन्तर ज्योतिष्को को क्षायिक सम्यक्त्व होता ही नही है, क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व वाली आत्मा उनमे उत्पन्न नही होती, दूसरे दोनों सम्यक्त्व पूर्वानुसार होते हैं। (३) मनुष्य दो प्रकार के होते हैं १. सख्यात वर्ष की आयु वाला एव २ असख्यात वर्ष की आयुष्य वाला इनमे सख्यात वर्ष की आयुष्य वाले को औपशमिक सम्यक्त्व तादभविक होता है तथा क्षायिक एवं क्षायोपश-

मिक उस तादभविक एवं पारभविक होते हैं और असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले मनुष्यों में औपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व प्रथम तीन प्रकार के नारकी एवं वैमानिक देव के समान समझना चाहिये। क्षायोपशमिक तो कर्मग्रन्थकार के अभिप्राय से तादभविक एवं सैद्धान्तिक अभिप्राय से पारभविक भी होता है। (४) पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च भी मनुष्य के समान दो प्रकार के होते है। इनमें असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले तिर्यञ्चों को तीन सम्यक्त्व मनुष्य के समान कहे हैं। तथा असख्यात वर्प को आयुष्य वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों को तथा तिर्यञ्चस्त्रियों को क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होगा। दूसरे दो सम्यक्त्व पूर्वानुसार होते ही हैं।

शेष एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के तिर्यञ्चों को तीन में से एक भी सम्यक्त्व सम्भव नही है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन प्रवचनोद्धार के १४९ वें द्वार में से उद्धृत कर संक्षेप में किया गया है। विस्तार पूर्वक जानने की इच्छा रखने वाले को उसकी वृहद्‌वृत्ति देखनी चाहिये।

इस प्रकरण में यह शंका होती है कि निश्चय नय के मत से तो संसार मे एक धर्म है, दूसरे सम्यक्त्वादि तो धर्म के साधन हैं तो ऐसी स्थिति में जीव को धर्म की प्राप्ति कब होती है?

इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि—धर्म संग्रहणी में निश्चय नय के मत से शैलेशीकरण के अन्तिम समय में ही धर्म की प्राप्ति होती है, उसकी पूर्व अवस्था में तो धर्म की प्राप्ति के साधन ही है। कहा भी है कि:—

"सोउ भवक्खय हेऊ सेलेसी चरम समयभावी जो। सेसोपुण निच्छयओ तस्सेव पसाहगो भणिओ त्ति।"

श्री जिनलाभ सूरिजी आदि सद्गुरुओं की कृपा से श्री क्षमा कल्याण गणिजी रचित प्रश्नोत्तर सार्धशतक का उत्तरार्ध भाग परिपूर्ण हुआ।

किसी भी कारण से इस में कोई दोष रह गया हो तो विद्वज्जन इस में संशोधन कर लेवें।

प्रश्नोत्तर सार्धशतक का उत्तरार्ध भाग समाप्त।

